हिन्दी आलोचना के विकास में विजय देव नारायण साही का योगदान

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि
हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध
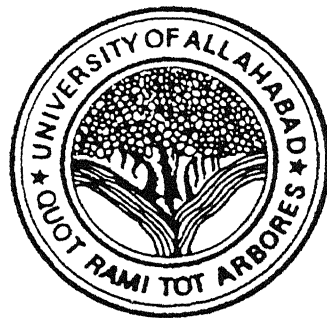
निर्देशिका
प्रो० मालती तिवारी
एम० ए०, डी फिल्
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्ता
धारवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी
एम० ए० हिन्दी
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
2002

भूमिका

हिन्दी आलोचना के इतिहास मे बीसवी शताब्दी के पॉचवे दशक के आस–पास कवि–आलोचक विजय देव नारायण साही का आविर्भाव होता है। लेकिन हिन्दी जगत मे उन्हे एक कवि के रूप मे ही प्रतिष्ठा प्राप्त है, आलोचक के रूप मे कम। इधर एक साहित्यिक पत्रिका ने 'हिन्दी आलोचना' के सौ वर्षों को विश्लेषित करते हुए उन्हे भले ही हिन्दी आलोचना के नव–रत्नो मे स्थान दिया हो लेकिन पूरा का पूरा हिन्दी जगत साही के आलोचनात्मक अवदानो को लेकर प्राय मौन ही है। साही के 'कविता–कर्म' को लेकर तो काफी कुछ लिखा गया है, विश्वविद्यालयो मे उनके कवि व्यक्तित्व को लेकर कई शोध भी हुए है और निरन्तर हो रहे है लेकिन उनके आलोचनात्मक–कर्म को लेकर स्फुट लेखन के अलावा कोई ठोस कार्य सामने नही आ पाया है।

साही का व्यक्तित्व बहुमुखी है। अग्रेजी साहित्य के अध्ययन–अध्यापन, सोशलिस्ट पार्टी के जुझारू एव कर्मठ कार्यकर्ता होने के साथ–साथ वे नई कविता के कवि, नई समीक्षा के आलोचक, 'आलोचना' तथा 'नई कविता' पत्रिका के सहयोगी सम्पादक रहे है। लेकिन प्रस्तुत 'शोध प्रबन्ध' मे विजय देव नारायण साही के आलोचना कर्म को रेखाकित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

"हिन्दी आलोचना के विकास में विजय देव नारायण साही का योगदान" विषयक इस शोध प्रबन्ध को कुल छ अध्यायों में विभाजित किया गया है। पहले अध्याय मे साही पूर्व हिन्दी आलोचना को रेखाकित किया गया है। भारतेन्दु–युगीन पत्र–पत्रिकाओ के माध्यम से हिन्दी आलोचना विकसित हुई और द्विवेदी युग मे हिन्दी आलोचना पुष्ट होती हुई दो धाराओ मे विभक्त हो गयी। पहली धारा जिसके अन्तर्गत महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके समान विचार के आलोचक है तो दूसरी धारा तुलनात्मक समीक्षा की रही है, जिसमे मिश्र बन्धु, पद्म सिंह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवान दीन आदि प्रमुख रहे है। रामचन्द्र शुक्ल के दौर मे हिन्दी आलोचना का अपना जातीय स्वरूप निर्मित हुआ। इन सभी युगो के

साथ–साथ छायावादी कवियो की आलोचना तथा डॉ० देवराज के आलोचनात्मक अवदानो को भी इस अध्याय मे रेखाकित किया गया है।

दूसरे अध्याय मे साही के समकालीन आलोचको की आलोचना दृष्टि पर विचार किया गया है। मार्क्सवाद समीक्षक शिवदान सिह चौहान, प्रकाश चन्द्र गुप्त, डॉ० रामविलास शर्मा, गजानन् माधव मुक्तिबोध, डॉ० नामवर सिह के साथ–साथ प्रयोगवादी कवि–आलोचक 'अज्ञेय' तथा नई कविता, नई समीक्षा के आलोचक रघुवश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी की आलोचना–दृष्टि का जायजा लिया गया है।

तीसरे अध्याय मे साही के आलोचना–कर्म को उनके प्रकाशित 'निबन्ध–सग्रहो' के सदर्भ मे विश्लेषित किया गया है। साही के प्रकाशित निबन्ध–सग्रह छठवा दशक, साहित्य क्यो ?, साहित्य और साहित्यकार का दायित्व, लोकतत्र की चुनौतियॉ, वर्धमान और पतनशील के साथ–साथ 'जायसी' को केन्द्र मे रखकर उनकी विचार सरणि का विश्लेषण किया गया है।

चौथे अध्याय मे साही के आलोचनात्मक–प्रतिमानो की खोज की गयी है।

पॉचवे अध्याय मे साही की सास्कृतिक–दृष्टि का जायजा लिया गया है। सास्कृतिक दृष्टि के सदर्भ में साही के राजनैतिक तथा साहित्यिक और सामाजिक दृष्टि को भी रेखाकित करने का प्रयास किया गया है।

छठे अध्याय यानी 'उपसहार' मे साही के 'हिन्दी आलोचना' के सदर्भ मे दिये गये योगदानो को रेखाकित किया गया है।

इस शोध–प्रबन्ध का सामग्री–संकलन लेखन एव प्रस्तुतीकरण मैने इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिदी विभाग की पूर्व अध्यक्ष एव प्रोफेसर आदरणीया मालती तिवारी जी के निर्देशन में किया गया है। उनके मातृ–तुल्य स्नेह, सतत् प्रोत्साहन के चलते ही मै इस कार्य को पूरा कर सका। इसके लिए मैं प्रो० तिवारी का आजीवन आभारी रहूँगा।

हिन्दी विभाग के वर्तमान विभागाध्यक्ष प्रो० राजेन्द्र कुमार और सुप्रसिद्ध आलोचक एव विद्वान प्रोफेसर सत्यप्रकाश मिश्र के अमूल्य सुझावो से मेरा मार्ग सदैव प्रशस्त होता रहा है। जिसके लिए मै उनका सदैव ऋणी रहूँगा। इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने मे पत्रकारिता से अध्यापन की दुनिया मे आये हिदी विभाग के रीडर डॉ० मुश्ताक अली ने न सिर्फ अपने सुझाव दिये बल्कि निरन्तर सहयोग भी देते रहे, जिसके लिए मै उनका हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ और उम्मीद करता हूँ कि भविष्य मे भी उनका स्नेह और सहयोग मिलता रहेगा। इस मौके पर कवि अनिल कुमार सिह, कवि नीलाभ और लेखन पत्रिका के सम्पादक विद्याधर शुक्ल के साथ–साथ श्रीमती शीला राय, श्रीमती सुष्मिता श्रीवास्तव, को भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ, जिन्होने न सिर्फ प्रोत्साहन दिया बल्कि अनेक प्रकार की सामग्री भी उपलब्ध करवायी जिससे इस कार्य को पूर्ण करने मे मदद मिली।

मै अपने निजी जीवन के स्वस्थ–प्रतिस्पर्धी एव सहयोगी मित्र कुमार वीरेन्द्र सिह को भी इस अवसर पर धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होने इस कार्य के लिए लगातार उत्तेजित किये रखा। साथ ही ब्रह्मेश्वर प्रसाद पाठक, अरुण कुमार सिह 'सहयोगी', अजनी कुमार सिह, धनपाल सिह, अनीश कुमार त्रिपाठी, स्वतत्र कुमार सिह, दिनेश सिह, राजकुमार सिह, रामकुमार वर्मा, विनोद त्रिपाठी, सर्वेश रत्न सिह को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होने इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने के लिए सदैव प्रेरित किया।

इस अवसर पर अपने बाबा स्व० जगन्नाथ तिवारी का स्मरण करते हुए उनके प्रति अपनी भाव–भीनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ, जिन्होने बचपन से ही लिखने–पढने के प्रति जिज्ञासा का भाव जगाया। अपने बडे पिता श्री कमलाकान्त तिवारी जी और पिता श्री कैलाश नाथ त्रिपाठी जी के आशीर्वाद से ही मै इस कार्य को पूर्ण कर सका, उन सभी के प्रति मै आभार व्यक्त करता हूँ। साथ ही दोनो बडी माताओ श्रीमती प्रभावती देवी, श्रीमती कुलवन्ती देवी के साथ–साथ माँ श्रीमती सुशीला त्रिपाठी के मातृत्व स्नेह से ही मै यह कार्य पूर्ण करने मे सफल रहा, जिनका मै आजीवन ऋणी तो हूँ ही, उनके असीम आशीर्वाद का आकाक्षी भी हूँ। इस अवसर पर अपने अग्रज श्री राजेन्द्र नारायण तिवारी, श्री जीतेन्द्र कुमार तिवारी,

श्री राघवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी और भाभियो श्रीमती इन्दु तिवारी, श्रीमती इन्दु बाला तिवारी और श्रीमती आभा त्रिपाठी के प्रति भी आभार व्यक्त करना चाहता हूँ, जिनके आशीर्वचन के बगैर यह कार्य पूर्ण हो ही नही सकता था। साथ ही अपनी भतीजी कु० सोनाली तिवारी को भी सस्नेह धन्यवाद देना चाहता हूँ, जिसने कि लिखने के क्रम मे सहयोग प्रदान किया।

मै हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी ऐकेडमी, केन्द्रीय राजकीय पुस्तकालय, हिन्दी परिषद् पुस्तकालय तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय कर्मियो को भी धन्यवाद देना चाहता हूँ जिन्होने इस कार्य को पूर्ण करने मे विशेष सहयोग प्रदान किया।

अन्त मे, मै 'जय मॉ दुर्गे कम्प्यूटर प्वाइट' के कम्प्यूटर आपरेटरो क्रमश सतोष दास, रमेश यादव, एव चन्द्रभान सिह को भी धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूँ जिन्होने अल्प समय मे इस कार्य को पूर्ण करने मे सहयोग प्रदान किया।

शोधार्थी

धारवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी

दिनांक : 11.11.2002

(धारवेन्द्र प्रताप त्रिपाठी)

हिन्दी विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विषय सूची

प्रथम अध्याय

विजय देव नारायण साही पूर्व हिन्दी आलोचना

(क) हिन्दी की रीतिकालीन आलोचना

(ख) भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना

(ग) द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना

महावीर प्रसाद द्विवेदी

(घ) तुलनात्मक आलोचना

मिश्रबन्धु

पदम सिह शर्मा

कृष्ण बिहारी मिश्र

लाला भगवान दीन

(ङ) बालमुकुन्द गुप्त

(च) आचार्य द्विवेदी के सहयोगी आलोचक

(छ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(ज) प्राध्यापकीय आलोचना

बाबू श्यामसुन्दर दास

(झ) छायावादी कवि आलोचक

(ञ) प्रभाववादी आलोचना

शातिप्रिय द्विवेदी

(ट) आचार्य शुक्ल की आलोचना परम्परा के आलोचक

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र एवं अन्य

(ठ) शुक्लोत्तर आलोचना–त्रयी

नन्द दुलारे वाजपेयी

हजारी प्रसाद द्विवेदी

रसवादी समीक्षक – नगेन्द्र

(ड) डॉ० देवराज

विजय देव नारायण साही पूर्व हिन्दी आलोचना का इतिहास एक वैविध्यपूर्ण आलोचना, का इतिहास है। साही के आलोचना कर्म का समय बीसवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध (1950–1982) है। हिन्दी आलोचना की शुरूआत 1880 के आस–पास भारतेन्दु युग से होती है। हिन्दी के साहित्य के भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, शुक्ल युग, शुक्लोत्तर युग के बाद प्रगतिशील साहित्यिक युग मे विजय देव नारायण साही का आर्विभाव होता है। साही के दौर मे जहा आलोचना का वितान लम्बा–चौडा रहा है, वही इसमे विचारधारात्मक प्रवृत्ति का जोर रहा है। साही पूर्व हिन्दी आलोचना पर विचारविमर्श करने से पूर्व हमे 'आलोचना' के उन पहलुओ पर भी ध्यान देना होगा जिनसे 'आलोचना' का मार्ग प्रशस्त हो सका। हिन्दी आलोचना को समझने के लिए सस्कृत के साथ–साथ रीतिकालीन आलोचना पर एक सरसरी निगाह डाल लेना जरूरी है।

हिन्दी साहित्य मे गद्य की सशक्त विधा 'आलोचना' का सूत्रपात यद्यपि भारतेन्दु युग से होता है, लेकिन भारत मे आलोचना कर्म का सूत्रपात राजशेखर ने अपनी काव्य मीमासा मे किया जिसे औचित्यवादियो ने व्यावहारिक रूप प्रदान किया।[1] सस्कृत साहित्य मे सिद्धान्त ग्रन्थो को आधार मानकर विविध सम्प्रदायो के अन्तर्गत काव्यात्मा के सम्बन्ध मे जो विचार–विमर्श हुआ है उसे 'आलोचना' के अन्तर्गत स्वीकार किया जाता है। प्रसिद्ध विद्वान, भगीरथ मिश्र ऐसी आलोचना को सूत्रमयी सैद्धान्तिक आलोचना[2] स्वीकार करते है। काव्यात्मा के प्रश्न को मुख्यत पाच सम्प्रदायो के आचार्यों ने हल करने की कोशिश की है। अलकार सम्प्रदाय, वक्रोक्ति सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय ये प्रमुख पाच सम्प्रदाय है। इन सम्प्रदायो के अतिरिक्त सिद्धान्त निरूपण का एक और स्वरूप सस्कृत साहित्य मे मिलता है। रचनात्मक साहित्य को आधार बनाकर काव्य के अनेक भेद–उपभेद करके, काव्य को शैली के नियमो के अतिरिक्त वर्ण्य विषयो के मान निर्धारित कर उनके ग्रहण और ताज्य के विधानो के दिग्दर्शन के साथ–साथ गुण और दोषो के स्वरूप का निर्धारण करने की प्रवृत्ति भी सस्कृत साहित्य मे रही है। रामदरश मिश्र के अनुसार–"यह सैद्धान्तिक आलोचना थोडे–थोडे अन्तरो के

सभी फुटनोट अध्याय के अन्त मे दिये गये है

कारण सूत्र, कारिका फक्किका, वृत्ति, टिप्पणी, भाष्य, समीक्षा, वचनिका टीका, व्याख्यान आदि अनेक नाम धारण करती है।"[3]

(क) हिन्दी की रीतिकालीन आलोचना

सस्कृत–साहित्य मे आलोचना का जो विविध रूप था लगभग वैसा ही रूप रीतिकालीन हिन्दी आलोचना मे देखने को मिलता है। आचार्य केशव ऐसे पहले व्यक्ति थे जिन्होने काव्य के सभी अगो का सम्यक् रूप से शास्त्रीय निरुपण करने का प्रयास किया है, यद्यपि यह धारा पचास वर्षों बाद चिन्तामणी से होती हुई पूरे रीतिकाल तक विद्यमान रही वैसे साहित्य चर्चा का प्रारम्भिक रूप कृपा राम की हित तरगिणी से मिलता है। निर्मला जैन के अनुसार "वस्तुत सही रूप मे हिन्दी मे शास्त्र चर्चा का आरम्भ भक्तिकाल मे कृपा राम (1588) की 'हित तरगिणी' से ही माना जाता है। इस ग्रन्थ का आधार भरत मुनि का नाट्यशास्त्र तथा भानुदत्त की रसमजरी थे।"[4]

सस्कृत ग्रन्थो के आधार पर 'हित तरगिणी' ही नही बल्कि रीतिकालीन तमाम लक्षण ग्रन्थो की रचना हुई है। यदि रीतिकालीन लक्षण ग्रन्थो को सस्कृत साहित्य का हिन्दी सस्करण भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह अवश्य है कि छिट–पुट रूप से कही–कही मौलिक उद्भावना के भी दर्शन होते है। सस्कृत साहित्य से इतनी निकटता के बावजूद रीतिकालीन साहित्य चर्चा का फलक बहुत छोटा है। रामदरश मिश्र इसके कई कारण मानते हैं। उनके अनुसार–"एक तो यह कि संस्कृत साहित्य के पास विकसित गद्य था जबकि हिन्दी के पास परिष्कृत प्रौढ गद्य का कोई रूप न था, अतएव छन्दो में ही सारी बातें कही जाती थी, शास्त्र चर्चा के लिए छन्दो की भाषा अनुपयुक्त सिद्ध होती है। एक तो शास्त्रीय बाते यो ही जटिल होती है, दूसरे यदि उन्हे सूत्र रूप में कह दिया जाय तो उनकी जटिलता और बढ जाती है, तीसरे छन्दो के आग्रह से इस प्रकार अग–भग करके उन्हे कठघरे मे बैठा दिया जाए कि वाच्यार्थ भी साफ न हो तो फिर शास्त्रीय चर्चा हो चुकी। हिन्दी साहित्य शास्त्र के अविकसित रहने का एक अन्य कारण यह भी है

कि रीतिकाल के सभी आचार्य पहले कवि थे फिर आचार्य, उनका ध्येय दोहो, सोरठो मे काव्यागो का लक्षण देकर उदाहरण स्वरूप अपनी कविताए प्रस्तुत करना था।"[5]

(ख) भारतेन्दु युगीन हिन्दी आलोचना

भारतेन्दु युग मे हिन्दी गद्य के विकास के साथ ही आलोचना, साहित्य की सर्जनात्मक विधा के रूप मे अग्रसर होने लगी। यद्यपि काव्य के क्षेत्र मे छायावाद के पूर्व तक ब्रजभाषा का ही बोलबाला था, परन्तु खडी बोली के गद्य रूप के विकसित होने के साथ ही कहानी, नाटक, उपन्यास के साथ–साथ 'आलोचना' विधा का रूप सवरने लगा।

गद्य के विकास के साथ–साथ पत्र–पत्रिकाओ के प्रकाशन, यूरोपियो का साहित्य पर पडा प्रभाव, साथ ही हिन्दी मे होते अन्य भाषायी अनुवादो के कारण 'हिन्दी आलोचना' एक विधा के रूप मे अग्रसारित हुई। 'हिन्दी आलोचना' के प्रारम्भिक रूप को सवारने का काम अग्रेजो का ही रहा है। डॉ0 रामाधार शर्मा का मानना है कि "सर्वप्रथम हिन्दी पर व्यवस्थित समीक्षाए अग्रेजो की ही उपलब्ध होती है। हिन्दी समीक्षा के आरम्भ मे जार्ज गियर्सन, एफ0एस0 ग्राडज जैसे अग्रेज समीक्षको के नाम दिखाई पडते है। इनके उपरान्त कारपेन्टर, फरकुहर, जे0एम0, मेकफी, आर0डब्ल्यू फ्रेजर आदि अंग्रेज विद्वानो और गार्सा द तासी फ्रान्सिसी के नाम उल्लेखनीय है। इन लोगो के पास एक समृद्ध समीक्षा दृष्टि थी, जिससे इन्होने साहित्य को प्रभावित किया। समीक्षा के अवरूद्ध द्वार को खोलने का बहुत कुछ श्रेय इन अग्रेज समीक्षको को भी दिया गया है।"[6]

हिन्दी आलोचना के लिए एक महत्वपूर्ण बात यह हुई कि इसके प्रारम्भिक समय से ही आलोचना की दृष्टि काव्य के नैतिक पक्षो पर अधिक लगी रही है, कला पक्ष पर कम। भारतेन्दु युग मे साहित्य सम्बन्धी दो दृष्टियां मिलती है। एक तरफ उसमे अतीत के प्रति मोह है तो दूसरी तरफ आधुनिक नव विचारो के मूल्यो की महत्ता पर जोर है। यह आधुनिक दृष्टि खाटी स्वदेशी दृष्टि रही हो, ऐसा तो नही कहा जा सकता, लेकिन यूरोपीय प्रभाव के बावजूद इसे भारतीय दृष्टि माना

जा सकता है। सामाजिक, राजनैतिक दृष्टि से राम मनोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे कालजयी व्यक्तित्व इस चेतना के अग्रदूत थे तो स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके सवाहक थे। दयानन्द सरस्वती का व्यक्तित्व नये–पुराने के संक्रमण से उत्पन्न हुआ व्यक्तित्व है। 'स्वदेशी' की वकालत करते हुए दयानन्द सरस्वती कहते है "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरी, उत्तम होता है। अथवा मत–मतान्तरो के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता–पिता के समान कृपा, पाप और दया के साथ भी विदेशियो का राज्य पूर्ण सुखदाय नही है।"[7]

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने राष्ट्रीय उत्थान के लिए राजनीतिक तथा सामाजिक दोनो प्रकार की जागृति पैदा की, जिसमें नव प्रकाश के साथ–साथ स्वदेशाभिमान भी भरा था। इसी समय के आस–पास गोपाल हरि देशमुख, महादेव गोविन्द रानाडे, बाल गगाधर तिलक बकिम चन्द्र चटर्जी, सुरेन्द्र नाथ बनर्जी, एम0जी0 चन्द्रावरक, जी0के0 गोखले आदि विचारको ने एक तरफ तो ब्रिटिश सत्ता की कृतज्ञता को स्वीकारा तो दूसरी तरफ भारत की सस्कृति, सभ्यता, इतिहास, परम्परा आदि पर जोर दिया और जनता के राष्ट्रीय तथा जन्मसिद्ध अधिकारों की वकालत भी की। वस्तुत इस द्विविधाग्रस्त स्थिति से राजनीतिक विचारक ही नही, अपितु सामाजिक, साहित्यिक, यहा तक जो भी जागरूक लोग थे सभी गुजर रहे थे। समाज और साहित्य का अनुस्यूत सम्बन्ध होता है तो स्वाभाविक था कि युगीन परिस्थितिया साहित्य को भी प्रभावित करती इसीलिए भारतेन्दु युगीन साहित्य मे जहा राजभक्ति के तत्व भी मिलते है तो दूसरी तरफ आम जनता के करुण चितकार का भी तत्व मिलता है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि हिन्दी आलोचना' के अपने जातीय स्वरूप का जो प्रारम्भिक रूप है उस पर कही न कही गहरे स्तर पर पाश्चात्य का प्रभाव अवश्य पडा है और यह प्रभाव आज भी विद्यमान है इससे इन्कार नही किया जा सकता।

'हिन्दी आलोचना' के प्रारम्भिक समय मे गुण–दोष के आधार तत्व पर ही साहित्य की परीक्षा की जाती रही। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस बात को यो लक्षित किया है "समालोचना के दो प्रधान मार्ग होते है, निर्णयात्मक (जुडिशियल

मेथेड) और व्याख्यात्मक (इडक्टिव क्रिटिसिज्म)। निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण–दोष निरुपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमे लेखक या कवि की कही प्रशसा होती है, कही निन्दा। व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रन्थ मे आई हुई बातो की एक व्यवस्थिति रूप मे सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। कहने की आवश्यकता नही कि हमारे हिन्दी साहित्य मे समालोचना पहले पहल केवल गुण–दोष दर्शन के रूप मे प्रकट हुई।"[8]

अपने प्रारम्भिक रूप मे हिन्दी आलोचना' भले ही निर्णयात्मक रही हो तथापि धीरे–धीरे आलोचना का वृत्त बढने लगा। जकडबन्दी से मुक्त होते ही 'आलोचना' की दिशा गुण–दोष से अलग होकर तथ्यान्वेषी मार्गों पर चलने लगी जिसके परिणामस्वरूप एक स्वस्थ सुगठित आलोचना का नवोन्मेष बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ मे हुआ।

भारतेन्दु–युग मे आलोचना मुख्यत पत्र–पत्रिकाओ के माध्यम से ही अपना रास्ता बनाती हुई विकसित होती है। इस काल मे किसी कवि, कृति के ऊपर पुस्तककार रूप मे कोई आलोचनात्मक पुस्तक नही मिलती है। आनन्द कादम्बिनी, हिन्दी प्रदीप, हरिश्चन्द्र मैगजीन, ब्राह्मण आदि पत्र–पत्रिकाओ के माध्यम से हिन्दी आलोचना का बीज विकसित होता है। रामचन्द्र तिवारी का मानना है कि "भारतेन्दु युग मे आधुनिक आलोचना का रूप यदि कही बीज रूप मे सुरक्षित है तो वह पत्र–पत्रिकाओ मे प्रकाशित पुस्तक समीक्षाओ मे ही है।[9]"

कालक्रम की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के प्रथम आलोचक बालकृष्ण भट्ट[10] ने हिन्दी प्रदीप' (जुलाई 1881) मे "साहित्य जन समूह के हृदय का विकास है" में साहित्य को जनसमूह के चित्त का चित्रपट स्वीकार किया। भट्ट जी लिखते है "साहित्य यदि Nation जनसमूह के चित्त का चित्रपट कहा जाय तो सङ्गत है, किसी देश का इतिहास पढने से केवल बाहरी हाल हम उस देश का जान सकते है पर साहित्य के अनुशीलन से कौम के सब समय–समय के आभ्यन्तरिक भाव हमे परिस्फुट हो सकते है।"[11] उपर्युक्त उद्धरण से यह ध्वनित होता है कि भारतेन्दु युग मे साहित्य राज महल से निकलकर जनपथ की तरफ अग्रसर हो चला था। अब

साहित्य केवल भोग–विलास या कला मात्र नही था, बल्कि उसकी नजर आम जनता की चित्त वृत्ति की तरफ उन्मुख हो रही थी।

'हिन्दी आलोचना' का प्रारम्भिक रूप 'नाटक' केन्द्रित रहा है। 'नाटक' भारतेन्दु युगीन साहित्य का मूल स्वर रहा है। नाटक विधा के माध्यम से इस युग के लेखको ने साहित्य और जनता के प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष सम्बन्धो को स्पष्टत. दिखाया है। आधुनिक काल मे जब जनता की चित्तवृत्ति मे परिवर्तन हो रहा था, नया समाज बन रहा था तो स्वाभाविक था कि परम्परा से चली आ रही नाटको की प्रणाली मे परिवर्तन किया जाय। परिवर्तनवादी स्वर मे प्रेमधन' ने 1881 की आनन्द कादम्बिनी मे 'दृश्य रूपक वा नाटक' शीर्षक अपनी लेख माला मे लिखा "हमारे भाषा के नाटक लिखने वालो के अर्थ, भाषा दृश्य काव्य के निरुपण, और लक्षण तथा भेद, रीति, नियम और उदाहरण का बतलाने वाला कोई साहित्यिक ग्रन्थ नही और जो सस्कृत मे 'षष्ठ परिच्छेद' साहित्य दर्पण मे श्री विश्वनाथ कविराज रचित, दशरूपक सूत्र इत्यादि है, अब उनमे बहुत से गडबड समय और भाषा परिवर्तन के कारण हो गये और कितनी बातो का विरोध पड गया, अतएव मुख्य तो इनका आश्रय लेकर उस समय से इधर के बने नाटक तथा अग्रेजी, बगला दूसरी रीति से हमारी भाषा के भी (जो है) और गुजराती महाराष्ट्री से भी जाचकर नये तरह पर खासकर इस नागरी भाषा मे कोई ग्रन्थ होना अत्यन्त आवश्यक है।"[12]

इसी बात को केन्द्रित करते हुए भारतेन्दु ने अपने समय की केन्द्रिय रचना विधा नाटक के शास्त्रीय विवेचन के साथ–साथ सक्षिप्त इतिहास को नये भाव–बोध से ''नाटक अथवा दृश्य काव्य'' शीर्षक से 1883 मे प्रस्तुत किया। इसमे भारतेन्दु का स्वर आधुनिक है, पृष्ठभूमि यद्यपि परम्परागत ही है। भारतेन्दु का मानना है कि ''सस्कृत नाटक की भाति हिन्दी नाटक मे इनका अनुसधान करना वा किसी नाटकाग मे इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है, क्योकि प्राचीन लक्षण रखकर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ हो जाता है।''[13]

भारतेन्दु युग मे आलोचको की दृष्टि चिर–पुरातन के साथ नित नूतन की रही। इस युग मे पुस्तको की विस्तृत समीक्षा का भी चलन शुरू हुआ। आचार्य शुक्ल का मानना है कि "पुस्तको की विस्तृत समालोचना उपाध्याय पं0 बदरी नारायण चौधरी ने अपनी आनन्द कादम्बिनी मे शुरू की। लाला श्री निवास दास के सयोगिता स्वयवर नाटक की बडी विशद और कडी आलोचना जिसमें दोषो का उद्घाटन बडी बारीकी से किया गया था उक्त पत्रिका मे निकाली थी।"[14]

वैसे लाला श्री निवास दास के सयोगिता स्वयवर पर 'हिन्दी प्रदीप' अप्रैल 1886 मे प0 बाल कृष्ण भट्ट ने सबसे पहले समीक्षा प्रस्तुत की। 'हिन्दी प्रदीप' की समीक्षा की उत्कृष्टता को आनन्द कादम्बिनी' मे स्वीकार किया गया है।

'हिन्दी प्रदीप' मे 'सच्ची समालोचना' शीर्षक से की गई समीक्षा मे प0 बाल कृष्ण भट्ट ने इसकी कथा वस्तु मे वस्तुनिष्ठता के अभाव के साथ–साथ इसकी ऐतिहासिकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया है। साथ ही इसके पात्रो को लेकर भी आलोचना की गई है। पात्रो को चारित्रिक वैशिष्ट्य से रहित मानते हुए भट्ट जी लिखते है "हमने जहा तक नाटक देखे उसमे पात्रो की व्यक्ति (Characterization) के भिन्न–भिन्न होने ही से नाटक की शोभा देखा। पर आपके पात्र सब के सब एक ही रस मे सने उपदेश देने की हवस से लथर–पथर पाये गये और उस रस मे आप ही कि विद्या के प्रकाश का जहर भरा है।"[15]

भट्ट जी को पात्रो के द्वारा अनेकानेक विषयो पर उपदेश देने की प्रवृत्ति इतनी बुरी लगी कि वे खिन्न होकर लिखते है कि "आप एकता, सच्ची प्रीति आदि विषयो पर अपने पात्रो के मुख से लेक्चर दिया चाहते है तो एक सलाह मेरी है उसको सुनिये इस नाटक को काट–छाट इसमे से आठ दस (पैफलेट) छोटे–छोटे गुटके छपवा दीजिये।"[16]

भट्ट जी व्यग्यात्मक शैली का प्रयोग अपनी आलोचना मे करते है। सयोगिता के इस आचरण पर कि – जब वह पृथ्वीराज से पहली मुलाकात मे मद्यपान के लिए कहती है 'साजन थोडा फुर्ती घणी जाणाय सूर चढै अरु श्रम मिटै बार न खाली जाय' पर व्यग्य करते हुए भट्ट जी लिखते हैं "हाय–हाय सयोगिता

पर भरपूर शामत सवार हुई जो उसके बारे मे नाटक लिखने का हौसला आपके मन मे बढा।[17]

'आनन्द कादम्बिनी' मे प्रकाशित समीक्षा आकार की दृष्टि से 'हिन्दी प्रदीप' से बडी है। इस नाटक की समीक्षा उपाध्याय प0 बदरी नारायण चौधरी प्रेमधन ने 'सयोगिता स्वयम्वर नाटक' के नाम से 'प्राप्ति स्वीकार व समालोचना' स्तम्भ के तहत किया है। इस समीक्षा मे भूल–दोषो को दिखाया गया है साथ ही सुधार का निर्देश भी दिया गया है।

प्रेमधन जी की समीक्षा का अधिकाश भाग त्रुटियो को ही बताने मे निर्दिष्ट है। वाक्य मे आए शब्दो तक मे परिवर्तन की बात कही गयी है। इसके साथ ही प्रेमधन जी ने शेक्सपियर कालिदास, भारतेन्दु के प्रभाव को इसमे लक्षित किया है।प्रेमधन जी की व्यग्यात्मक शैली भट्ट जी से भी अधिक तीक्ष्ण है। नाटक के एक दृश्य जिसमे पृथ्वीराज काम भावना के आवेश मे मूर्छित होने लगता है पर प्रेमधन जी की टिप्पणी है–"क्या मिरगी आती थी ?"[18]

इन समीक्षाओ से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु युग मे आलोचना की दृष्टि एकागी नही थी। हा प्रारम्भिक अवस्था होने के कारण आलोचना मे 'गुण–दोष' पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक अथवा दृश्य काव्य' शीर्षक निबन्ध मे जिन प्रतिमानो की बात की थी, उन प्रतिमानो के आधार पर ही ये समीक्षाए प्रस्तुत हुई।

'हिन्दी प्रदीप' मे 'सयोगिता स्वयम्वर' के अलावा रणधीर प्रेममोहिनी, नील देवी, भारत–दुर्दशा आदि नाटको पर भट्ट जी ने समीक्षात्मक विचार प्रस्तुत किया है। नाटको के अतिरिक्त इस पत्र मे मौलिक तथा अनुदित उपन्यासों की समीक्षा की गई है। परीक्षा गुरु के अतिरिक्त अपने समय के बहुचर्चित उपन्यासों रमेश चन्द्र दत्त के बगला उपन्यास का बाबू गदाधर सिह कृत हिन्दी अनुवाद 'बगविजेता' तथा गोपाल राम गहमरी कृत 'देवरानी जेठानी' की समीक्षा करते हुए भट्ट जी का मानना है कि ऐतिहासिक–सामाजिक नाटक लिखने वालो को ऐसे उपन्यासो से प्रेरणा लेनी चाहिए।

नाटक, उपन्यास के अतिरिक्त इस काल मे कविता, निबन्ध के साथ–साथ अनुवाद कैसा होना चाहिए, भावो की अभिव्यक्ति कैसी हो, भाषा कैसी हो आदि महत्वपूर्ण विषयो पर विमर्श किया गया है। 'प्रेमधन' जी ने 'दृश्य रूपक व नाटक' मे अनुवाद की कसौटी निर्धारित करते हुए लिखते है "जिस ग्रन्थ का आप अनुवाद करना चाहते है और वैसे ही रखते, अवश्य श्वेत स्वच्छ वस्तु को सुन्दर हल्के गुलाबी (प्याजा) रग से रगकर सुशोभित कीजिए पर ऐसा अमौआ की बोर न बोरिये कि धुलाने पर भी हाय–हाय मच जाय।"[19] इसीलिए "योग्य कवि के कविता के अनुवाद का योग्य कवि का होना अत्यन्तावश्यक है।"[20]

प० बालकृष्ण भट्ट ने 'सच्ची कविता' शीर्षक से हिन्दी प्रदीप' मे कविता सम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को उद्घाटित करते हुए लिखा है कि "बहुत जल्द ऐसा समय आता है कि झूठा और नकली सोने को असिल कर दिखा देने का हुनर लोगो को मालूम हो जाता है ठीक यही बात कविता मे है। नि सदेह पहले जिन लोगो ने कुछ कहा वह सच्ची और खरी बात थी, क्योकि कविता का Art हुनर तब तक पैदा ही नही हुआ था कविता झूठी और नकली होने की सम्भावना ही नही थी इसको हम प्राथमिक अथवा वास्तविक कविता कहेगे।"[21]

राष्ट्रवादी भट्ट जी ने साहित्य को मानव के हृदय का आदर्श रूप स्वीकार किया है। "साहित्य जिस देश के जो मनुष्य है उस जाति की मानवी सृष्टि के हृदय का आदर्श रूप है जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिलुप्त रहती है वह सब उनके भाव उस समय की साहित्य की आलोचना से अच्छी तरह प्रकट हो सकते है।"[22]

इस युग की एक अन्य महत्वपूर्ण पत्रिका 'ब्राह्मण' जिसके सम्पादक प० प्रताप नारायण मिश्र जी थे मे बराबर पुस्तको की समीक्षा प्रकाशित होती रही। इन समीक्षाओ मे महत्वपूर्ण समीक्षा 'सती नाटक' के अतिरिक्त 'वीर नारी नाटक' और पद्मावत' की है। इस युग मे सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का द्वन्द्व प्रभारक (1887) और नागरी प्रचारिणी पत्रिका (1897) मे प्रकाशित गगा प्रसाद अग्निहोत्री का लेख 'समालोचना' भी महत्वपूर्ण है।

भारतेन्दु युगीन आलोचना मे निर्णयात्मक समीक्षा का स्वर तेज तो है पर सिद्धान्तवादी दृष्टि भी मिलती है लेकिन इसकी कोई स्पष्ट दृष्टि तो नही बनती, हॉ, 'आगे के लिए राह' बनाने का यत्न स्पष्ट रूप से मिलता है। रीतिकालीन सस्कारो से मुक्ति का प्रयास भी इस युग मे मिलता है। डॉ0 निर्मला जैन के अनुसार "पुरानी पद्धति की पर्याप्तता को लेकर सन्देह तो उत्पन्न हो गया था, किन्तु इस युग की आलोचना मे रचनात्मक साहित्य के सन्दर्भ मे किसी सुनिश्चित नयी आलोचनात्मक पद्धति का निर्माण नही हो सका था। आलोचक की इस द्विविधाग्रस्त स्थिति को ध्यान मे रखते हुए उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी आलोचना का 'सक्रमण काल' कहा जा सकता है।"[23]

वस्तुत इस युग की आलोचना मे गुण–दोष विवेचन के साथ–साथ आदेशात्मक सुझाव का पुट बराबर मिलता रहता है। पर यह सुझाव जनवादी साहित्य के निर्माण के लिए है न कि दरबारी सस्कृति के पुर्नजन्म के लिए। नाटक, कविता के क्षेत्र मे भले ही 'राज–स्तुति' के तत्व मिलते है, पर आलोचना इस प्रवृत्ति से मुक्त है। विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार "जनसमूह के हृदय की भावनाओं' का आग्रह करके ही हिन्दी की आलोचना रीतिकालीन केचुल उतारकर आधुनिक बनी।"[24]

(ग) द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना

भारतेन्दु युग मे जहा आलोचना 'नाटक' केन्द्रित रही वही बीसवी शताब्दी में यह 'कविता' केन्द्रित हो जाती है। समय के साथ–साथ आलोचना का क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। भारतेन्दु युग मे जहा 'अनुवाद, और तात्कालिक रचना पर ही आलोचना केन्द्रित रही, वही द्विवेदी युग मे आकर, संस्कृत के कवियो के साथ–साथ, रीतिकाल और आधुनिक काल को केन्द्र मे रखकर विकसित होती है। यद्यपि भारतेन्दु युगीन प्रवृत्तिया इस युग मे भी मिलती है, लेकिन सुधारवादी प्रवृत्ति के अलावा द्विवेदी युग मे नये–नये भाव बोधो का परिष्कार, साहित्यिक नैतिक दायित्व के साथ–साथ 'भाषा' को व्यवस्थित करने का भी उपक्रम बराबर चलात रहता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

1903 मे सरस्वती[25] के सम्पादक का कार्यभार संभालने के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी ने न सिर्फ गद्य–पद्य की भाषा के एकीकरण पर जोर दिया, बल्कि खडी बोली को व्याकरण बद्ध करके सुगठित, स्वस्थ भाषा का दर्जा भी दिलाया। गद्य–पद्य की भाषा के एकीकरण का समर्थन करते हुए द्विवेदी जी लिखते है "कोई कारण नही कि हम लोग बोले एक भाषा मे और कविता करे दूसरी भाषा मे। बातचीत के समय जो जिस भाषा मे अपने विचार प्रकट करता है वह यदि उसी भाषा मे कविता भी करे तो और उत्तम हो। ब्रजभाषा बहुत काल से कविता मे प्रयुक्त होती आयी है पर एक अथवा दो जिले की भाषा पर देशभर के निवासियो का प्रेम बहुत दिन तक नही चल सकता।"[26]

भारतेन्दु युग मे जहा एक विशेष कृति को लेकर आलोचना प्रस्तुत की जाती रही, वही पहले–पहल किसी ग्रन्थकार को लेकर आलोचना करने का प्रारम्भिक प्रयास आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का ही है। हिन्दी आलोचना के पहले इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "किसी ग्रन्थकार के गुण अथवा दोष ही दिखलाने के लिए कोई पुस्तक भारतेन्दु के समय मे न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्तक प० महावीर प्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी कालिदास की आलोचना' थी जो इस द्वितीय उत्थान के आरम्भ मे ही निकली। इसमे लाला सीता राम बी०ए० का अनुवाद किए हुए नाटको के भाषा तथा भाव सबधी दोष बडे विस्तार से दिखाए गए है।"[27] द्विवेदी जी ने जहा सस्कृत कवियो को अपनी आलोचना का विषय बनाया वही आधुनिक कविता धारा को रीतिकालीन मानसिकता से मुक्त करके, आधुनिक भाव–बोध से सपृक्त करने का प्रयास भी किया। ऐसी प्रवृत्ति इस युग के सभी आलोचको की रही है। द्विवेदी जी ने यद्यपि परिचयात्मक रूप से ही बीते युग के साहित्य का परिचय दिया है, लेकिन कमियों को निर्टिष्ट करने मे खरी–खरी बाते कही है। महत्वपूर्ण तथ्य यह नही है कि कैसी आलोचना की गई है, महत्वपूर्ण तो यह है कि द्विवेदी जी ने अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों को आधुनिक सदर्भ से देखने का प्रयास किया है।

द्विवेदी युग सुधारवादी युग रहा है। द्विवेदी जी ने आदर्शवादी नैतिक दृष्टि से कविता के महत्व को प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि "कवि का प्रधान गुण सृष्टि नैपुण्य है। सुन्दर–सुन्दर चरित्रो की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश काल और अवस्था के अनुसार काव्य मे समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है।"[28] उपदेशात्मक शैली से 'आधुनिक कविता' की आलोचना मे द्विवेदी जी ने कविता को न सिर्फ अलकारो, छन्द, तुकबन्दी से मुक्त करने का आग्रह किया, बल्कि कवियो को नये–नये विषयो पर भी ध्यान केन्द्रित करने का आग्रह किया। रीतिकालीन कविता की सामन्तवादी दृष्टि से इतर आधुनिककाल की कविता की वकालत करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि आज के समय मे "नायिका भेद और रस तथा अलकार के विवेचन से पूरित पुस्तको की भी इस समय आवश्यकता नही।"[29]

कविता मे 'अर्थ' को महत्व देते हुए द्विवेदी जी लिखते है कि "अर्थ सौरस्य ही कविता का प्राण है। जिस पद्य मे अर्थ का चमत्कार नही वह कविता नही।"[30] अर्थ सौरस्य कविता मे कैसे आता है? द्विवेदी जी कहते है "कवि जिस विषय का वर्णन करे उस विषय से उसका तादात्म्य हो जाना चाहिए। ऐसा न होने से अर्थ–सौरस्य नही आ सकता।"[31]

अपने समकालीन ग्रन्थो की समीक्षा द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में 'रिव्यू' के आधार पर की है। यद्यपि इसमे गहरी मीमासा के तत्व तो नही मिलते, लेकिन कृतियो की उपयोगिता और भाषा का मूल्याकन अवश्य हुआ है। द्विवेदी जी ने 'रिव्यू' के अन्तर्गत एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि उन्होने न सिर्फ साहित्यिक कृतियो की समीक्षा की बल्कि गैर–साहित्यिक जैसे, इतिहास, भूगोल, विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि विषयो का मूल्याकन किया जिससे हिन्दी पाठको को अन्य विषयो की भी सारगर्भित जानकारी मिलती रहती थी।

द्विवेदी जी ने अपने युग के नाटको, उपन्यासो पर भी अपनी तीक्ष्ण, खरी, बेधक दृष्टि से विचार किया है। यद्यपि द्विवेदी जी की आलोचना मे ऐसी विधाओ का फलक, कविता विधा की अपेक्षा छोटा है। अभिनय के महत्व को प्रतिपादित

करते हुए द्विवेदी जी लिखते है ''समाज की भिन्न–भिन्न अवस्थाओ और दृश्यो का जैसा अच्छा चित्र अभिनय द्वारा दिखाया जा सकता है वैसा अच्छा और किसी तरह नही।''[32] आदर्शवादी नैतिक दृष्टि के प्रस्तोता आचार्य द्विवेदी ने पारसी रगमंच के बढते प्रकोप को साहित्य के लिए हानिप्रद माना। उनका मानना है कि ''जो नाटक आजकल इन प्रान्तो मे नाटक कपनियो के द्वारा खेले जाते है वे प्रायः उर्दू मे है। उनमे दिखलाये जाने वाले सामाजिक चित्र बहुधा अच्छे नही है।''[33] भारतेन्दु के जो विचार हिन्दी नाटको के आधुनिक सन्दर्भ मे थे लगभग वैसा ही विचार द्विवेदी जी का भी है। भरत और धनजय के नियमो के आधार पर आज के दौर मे नाटक लिखना द्विवेदी जी के अनुसार कोई अच्छी बात नही है। क्योकि ''जीवन की घटनाए, इतिहास मे वर्णन की गयी बाते, नाटक के विषय से सबध रखने वाली कथाए ये सब एक प्रकार की प्रचड लहरे है''[34] और इन उठने वाली लहरों को ''एक श्रृखला मे बाधकर यथास्थान रखना और अपेक्षानुसार जिसका जब समय आवे उठने देना चाहिए।''[35]

आधुनिक साहित्यिक विधा उपन्यास के बारे मे द्विवेदी जी 'उपन्यास–रहस्य' शीर्षक निबन्ध मे लिखते है कि ''प्रकृत उपन्यास साहित्य के जनन, उन्नयन और प्रचलन का श्रेय पश्चिमी देशो के ही लेखको को है''[36] उपन्यास का महत्व इस दृष्टि से है कि ''काव्यों और नाटको की भी पहुंच जहा नहीं वहां भी उपन्यास बेधडक पहुच सकते है।''[37] उपन्यास मे मनोविज्ञान की वकालत करते हुए द्विवेदी जी लिखते है ''उपन्यासो में मनुष्यो ही के चरित्रो और मनुष्यो ही के कार्यों तथा उनसे सबध रखने वाली घटनाओ का वर्णन रहता है। उसमे स्वाभाविकता लाने के लिए मनोविज्ञान का जानना जरूरी है।''[38]

द्विवेदी जी के समय तक हिन्दी आलोचना का इतिहास बहुत लम्बा नही था फिर भी द्विवेदी जी ने समालोचना' के लिए मानदण्ड निर्धारित करते हुए लिखा है कि ''योग्य समालोचक अपनी समालोचना मे समालोचित ग्रन्थ के ऐसे रहस्य प्रकट करते है जो साधारण विद्या बुद्धि के पाठको के ध्यान मे नही आ सकते। समालोचक कवि के हृदय के भावो को खोलकर सर्वसाधारण के सामने रख देता है।''[39] पाडित्यपूर्ण आलोचना का विरोध करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि रचना और

आलोचक के बीच का सम्बन्ध एक सहचर के जैसा होना चाहिए। "किसी पुस्तक या प्रबन्ध मे क्या लिखा गया है, किस ढग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नही, उससे किसी का मनोरजन हो सकता है या नही, उससे किसी को लाभ पहुच सकता है या नही लेखक ने नयी बात लिखी है या नही, यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानत इन्ही बातो पर विचार करना चाहिए।"[40] वस्तुत. द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को परिमार्जित करने के प्रयास किया है। एक तरफ उन्होने भाषा, व्याकरण को व्यवस्थित करने का प्रयास किया तो दूसरी तरफ नयी–नयी बातो को वह चाहे देशी हो, चाहे विदेशी को हिन्दी साहित्य से जोडने का प्रयास किया। द्विवेदी जी के महत्व को रेखाकित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना है कि "यदि द्विवेदी जी न उठ खडे होते तो जैसी अव्यवस्थित व्याकरणबद्ध विरूद्ध और उट–पटाग भाषा चारो ओर दिखाई पडती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रूकती।"[41]

'जीवन के सचित राशि कोशो का नाम साहित्य है' मानने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने न सिर्फ साहित्य को आधुनिक भावबोध से सपृक्त किया, बल्कि अपने नैतिक विवेक से खरी–खरी आलोचना कर साहित्य के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान दिया। निर्मला जैन के अनुसार "द्विवेदी जी की आलोचना पद्धति मे जितनी निर्भिक कट्टरता मिलती है, ज्ञानार्जन मे उतनी उदार ग्रहणशीलता। उनकी आलोचना दृष्टि के निर्माण मे हिन्दी, सस्कृत ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओ के साहित्य का भी योग था। वे उर्दू, बगला, मराठी आदि का साहित्य पढते ही नही थे, जो उन्हे रूचिकर लगता उसे निसकोच ग्रहण कर लेते थे। इन प्रभावो को खुलेआम स्वीकार करते थे और जहा अन्य साहित्यो की तुलना मे उन्हे हिन्दी में कुछ कमी दिखाई पडती थी, वहा वे ललकार कर हिन्दी के लेखको को चुनौती देते थे इस मामले मे उन्होने कभी कोई मुरौवत नही बरती। इस बैमुरौवती से पैदा होने वाला खरापन उनके बाद दुर्लभ हो गया।"[42]

(घ) तुलनात्मक-समीक्षा

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की जननोन्मुखी बनाने के लिए नैतिकता सामाजिक उपादेयता के साथ–साथ भाषा परिष्करण पर जोर दिया वही उनके समकालीन आलोचको खासकर मिश्र बन्धु, पद्म सिह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाला भगवानदीन ने तुलनात्मक आलोचना पर जोर दिया।

रामचन्द्र तिवारी ने तुलनात्मक आलोचना का इतिहास बताते हुए लिखा है कि "तुलनात्मक मूल्यांकन आलोच्य (द्विवेदी युग) समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ सामान्यत· 1907 में पद्म सिह शर्मा द्वारा 'बिहारी' और 'सादी' की तुलना से माना जाता है। किन्तु यह सही नही है। बाबू शिवनन्दन सहाय ने सन् 1905 में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र की कविता की विस्तृत समीक्षा करते हुए उनकी तुलना शेखर 'पद्माकर', तुलसीदास आदि कवियो से की है और उन्हे एक प्रकृत कवि के रूप में प्रस्तुत किया।"[43]

कालक्रम की दृष्टि से भले ही इसे द्विवेदी युगीन प्रवृत्ति माना जाय, लेकिन यह पद्धति एकदम नवीन नही है। आलोचना के क्रम मे कविता की भिन्नता दिखाने के क्रम मे, कवि की महत्ता दिखाने के क्रम मे यह प्रवृत्ति सस्कृत साहित्य मे भी विद्यमान रही है और आज इक्कीसवी सदी मे भी इसका स्फुट प्रयोग हो रहा है। लेकिन यह भी सच है कि रूढि के रूप मे इसका प्रयोग द्विवेदी युग मे ही हुआ है।

मिश्र–बन्धु

तुलनात्मक पद्धति के आधार पर आलोचकीय पुस्तक लिखने का प्रथम प्रयास मिश्र बन्धुओ ने 1910 में किया था। मिश्र–बन्धु प0 गणेश बिहारी मिश्र, श्याम बिहारी मिश्र प0 शुकदेव बिहारी मिश्र मे से प० श्याम बिहारी मिश्र, प० शुकदेव बिहारी मिश्र ने सयुक्त रूप से दिसम्बर 1900 की सरस्वती मे 'हिन्दी काव्य' विषय पर लेख लिखा है जिसमे खडी बोली मे कविता लिखने का आग्रह किया है। इससे पूर्व सितम्बर 1900 की सरस्वती मे रीतिकालीन कवि चन्द्रशेखर वाजपेयी के प्रबन्ध काव्य 'हम्मीर हठ' की आलोचना करते हुए मिश्र बन्धुओ ने अग्रेजी समीक्षा के मानको का

उपयोग किया है। 1910 मे गणेश बिहारी मिश्र को साथ लेकर मिश्र बन्धुओ की त्रयी ने 'हिन्दी नवरत्न' नामक हिन्दी आलोचना की पहली पुस्तक प्रकाशित करायी। इसकी भूमिका मे मिश्र बन्धुओ ने आलोचना के महत्व को रेखाकित करते हुए लिखा है कि "भविष्य के लेखको और कवियो के लिए समालोचना गुरु का काम करती है, क्योकि उन्हे वह यह सिखलाती है कि किस प्रकार की रचना अच्छी है, और सभ्य समाज मे आदर पा सकती है।"[44]

हिन्दी नवरत्न मे कवियो को श्रेणियो मे रखते हुए मिश्र बन्धुओ ने कवियो का क्रम उनकी काव्य प्रौढता के आधार पर निर्धारित किया। कवियो की श्रेणिया है–[45]

1. गोस्वामी तुलसीदास जी 2. महात्मा सूरदास जी 3. महाकवि देवदत्त देव 4. महाकवि बिहारी लाल 5. त्रिपाठी बन्धु भूषण और मतिराम 6. महाकवि केशवदास 7. महात्मा कबीर दास जी 8 महाकवि चद बरदाई 9. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

हिन्दी नवरत्न के पहले सस्करण मे कबीर दास का स्थान नही था, लेकिन दूसरे सस्करण मे उनका स्थान निर्धारित करते हुए मिश्र बन्धुओ का मानना है कि "कबीर दास को नवरत्न मे लेना ठीक जचा किन्तु किसी को निकाल डालना उचित न जानकर भूषण और मतिराम को त्रिपाठी बन्धु कहकर नवरत्न नाम सार्थक रक्खा।"[46]

महत्वपूर्ण बात यह है कि मिश्र बन्धुओ ने तुलसीदास, सूरदास के साथ रीतिकाल के कवि देव को हिन्दी कवियो की वृहत्रयी मे स्थान दिया है। विवादास्पद तरीके से ऐसा मूल्याकन मिश्र बन्धुओं ने क्यो किया? नन्द किशोर नवल का मानना है कि "मिश्रबन्धु तुलसीदास और सूरदास का या कहे कि हिन्दी की भक्ति काव्य परम्परा का सही मूल्याकन नही कर सके इसका कारण स्पष्टत· उनकी सामन्ती रूचि है। वे उस नवीन भारत की चेतना के प्रतिनिधि नही थे जो समाज और देश के सभी क्षेत्रो मे सामन्तवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करने के लिए उठ खडा हुआ था। इन आलोचकों का यह सामन्ती सस्कार ही था कि उन्होंने रीति–ग्रन्थकार कवि देव को हिन्दी कवियो की वृहत्त्रयी मे गिनाया और उन्हें तुलसी–सूर के समकक्ष बतलाया।"[47]

यान्त्रिक मूल्याकन के कारण मिश्रबन्धु कवि के अन्त करण मे प्रवेश नही कर पाये सिर्फ उपरी–उपरी बातो को ही ध्यान मे रखकर कवियो का श्रेणीक्रम निर्धारित कर दिया। मिश्र बन्धु बराबर तुलना पर ही केन्द्रित रहे, इसलिए कवियो के वैशिष्ट्य को वे उभार नही पाये साथ ही ऐसी तमाम अनर्गल बाते प्रस्तुत कर दी जो कवियो मे है ही नही। इस ग्रन्थ के बारे मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि "कवियो की विशेषताओ के मार्मिक निरुपण की आशा मे जो इसे खोलेगा वह निराश होगा।"[48] मिश्र बन्धुओ का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है 'मिश्र–बन्धु विनोद' जो चार खण्डो मे है। अपने इतिहास लेखन के क्रम में शुक्ल जी ने इस ग्रन्थ का उपयोग रीतिकाल के कवियो के परिचय मे किया है। इस ग्रन्थ मे मिश्र बन्धुओ ने कवियो को काल खण्ड के आधार पर बाटकर उनका परिचय दिया है। इतिहास की दृष्टि से इस ग्रन्थ का महत्व अधिक है।

नव–पुरातन चेतना से मिश्र बन्धुओ ने अपने समकालीन कवि श्रीधर पाठक की रचनाओ की समीक्षा करते हुए 'एकान्तवास योगी' और 'जगत सचाई सार' को खडी बोली की रचनाओ के लिए आदर्श माना। मिश्र बन्धुओ ने जहा हिन्दी कविता के जातीय स्वरूप को पहचानने का प्रयास किया वही आधुनिक काल के कवियो पर भी दृष्टि रखी। लेकिन रीतिकालीन सस्कारो के कारण वे आधुनिक काल की कविता की मूल नब्ज को नही पहचान पाये। राम दरश मिश्र का मानना है कि "मिश्र बन्धु एक ओर नया होने का प्रयास कर रहे थे, दूसरी ओर पुरानी साहित्यिक मान्यताये उनका पीछा कर रही थी। इस प्रकार उनमे पुराने रीतिवाद और नये आदर्शवाद का एक बडा दृष्टिहीन असन्तुलित सयोग दिखाई पडता है। नई वस्तुओं को बटोरने मे उनकी ललक तो अवश्य थी, किन्तु उनका सही मूल्याकन कर सकने की न तो उनमे क्षमता ही थी, न दृष्टि ही।"[49] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मिश्र बन्धुओ की समीक्षा का ऐतिहासिक महत्व तो अधिक है व्यावहारिक महत्व नाममात्र का ही है।

पद्म सिंह शर्मा

'हिन्दी–नवरत्न' की समीक्षा पद्धति से प्रभावित होकर 'देव और बिहारी' को लेकर इस युग मे पद्म सिह शर्मा, कृष्ण बिहारी मिश्र, लाल भगवानदीन ने एक के बाद एक समीक्षा पुस्तके प्रकाशित की। 'बिहारी सतसई' मे पद्म सिंह शर्मा ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए अपने रीतिकालीन रूझानो का ही परिचय दिया है। बिहारी ही नही अपने युगीन काव्यधारा 'छायावाद' के विवेचन मे भी शर्मा जी ने रीतिकालीन दृष्टि का ही परिचय दिया है। पारसनाथ सिह के नाम लिखे पत्र से यह स्पष्ट है कि शर्मा जी को छायावाद को लेकर जिज्ञासा तो थी लेकिन रीतिकालीन सस्कारो के कारण उसका मूल वे नही समझ पाते। पत्र का मजमून कुछ यो है–"मै न छायावाद का विरोधी हूँ और न खडी बोली का। पर दुर्भाग्य से छायावाद के नाम से जो कुछ आज कल निकल रहा है, वह मेरी समझ से बाहर है। अज्ञेय मीमासा है। इसलिए मजबूर हूँ। दाद नही दे सकता। समझू तो दाद हूँ। छायावाद के रहस्य पर आप कुछ प्रकाश डालिये तो शायद कुछ तत्व समझ मे आ जाये।"[50] मुजफ्फरपुर के हिन्दी सहित्य सम्मेलन मे सभापति के पद से बोलते हुए शर्मा जी ने नयी कविता (छायावाद) और उर्दू कविता की तुलना की "उर्दू वाले कविता मे भावो की नवीनता भरते है पर भाषा और रीति वही प्राचीन परिष्कृत है, उनकी गाडी की गति बदल गयी है रफ्तार में फर्क आ गया है पर धुरा और पहिये बदस्तूर वही है। हमारे हिन्दी के नवीन कवियो की गति' बिलकुल निराली है, वह कविता की गाडी के धुरे और पहिये बदल रहे है"[51] छायावाद के सबसे सुकुमार कवि पन्त पर गहरा आघात करते हुए शर्मा जी कहते हैं कि "पल्लव के नोकीले और जहरीले काटे इनके दिल मे न चुभाइये, 'वीणा' मे सोहिनी के स्वर छेडिये, मारुराग न बजाइये।"[52]

वस्तुत शर्मा जी का काव्यगत सस्कार रीतिकालीन कविता के साथ–साथ महफिली उर्दू कविता के आधार पर बना था जिससे वे 'छायावाद' को स्वीकार नही कर पाये। आर्यसमाजी शर्मा जी ने सूर–तुलसी के बजाय मतिराम, देवी, बिहारी को इसलिए पसन्द किया कि इनकी कविता मे चमत्कार था। 'बिहारी सतसई. एक तुलनात्मक अध्ययन' (1918) मे शर्मा जी ने छायावाद को रीतिकालीन कविता की

अपेक्षा हीन समझा। भूमिका मे शर्मा जी लिखते है "हमारी भाषा की बहार बीत गयी, अब कभी खत्म न होने वाली 'खिजा' के दिन है, भाषा के रसिक भौरे कान देकर सुने और ऑख खोलकर देखे, कोई पुकार रहा है –

"जिन दिन देखे वे कुसुम गयी सुबीत बहार।
अब अलि! रही गुलाब मे अपत कटीली डार।"[53]

आलोच्य पुस्तक मे शर्मा जी ने बिहारी के दोहो की आर्या सप्तशती, गाथा सप्तसती, अमरुक शतक, सस्कृत, हिन्दी और उर्दू के अन्य कवियो से निसकोच तुलना करते हुए बिहारी के दोहो मे आये उनके प्रभावो और बिहारी द्वारा उनके उपयोग के तरीको को लेकर विचार किया है। बिहारी के दोहो से जहा कही अन्य कवियो की समानता मिलती है, शर्मा जी इसे 'मजमून लड जाना' कहते है। उर्दू कविता के सस्कारो के चलते शर्मा जी की शैली मे 'महफिली दाद' की रगत कुछ अधिक है। शर्माजी की एक अन्य विशेषता प्रभाविव्यजकता है जैसे बिहारी के इस दोहे–

छूटे छुटावै जगत ते सटकारे सुकुमार।
मन बाधत बेनी बधे नील छबीले बार।

पर शर्मा जी की टिप्पणी है "इसका जबाब किसी को याद हो तो बतलावे! क्या कहना है, क्या कही है। ये बाल क्या है, काली बला है। एक आफत है कयामत है। छुटे हुए चैन लेने दे न बधे हुए!" इसकी तुलना सस्कृत के एक कवि की उक्ति से करते हुए, 'आप कहते है कि जरा ठहरियो, अभी जूडा न बांधो, मेरी आखे केशपाश के सघन जाल मे फसी है, मै जरा उन्हे आहिस्ता–आहिस्ता उभार लू वहा से निकाल लूँ कही वह बालो मे बधी न रह जाए'–पर शर्मा जी की टिप्पणी है "क्या सूझी है, इन हजरत ने यदि बिहारी के केशो की करामात सुनी होती तो ऐसी फिजूल आरजू कभी न करते। अरे! बाबा! आखे ज्यो त्यो करके निकाल भी ली तो क्या हुआ! इस नागन के मुंह मे से मन तो नही निकाल सकोगे?"[54]

श्रृगार प्रधान कविता का विरोध करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इसे आधुनिक भाव–बोध की दृष्टि से हीन माना था लेकिन उनके ही समकालीन शर्मा

जी ने इससे उलट निर्णय दिया। उनका मानना है कि श्रृगार रस के वर्णनो से कवि समाज मे धूर्त पाखडियो विटो की चाल का पता बता देते हैं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए शर्मा जी अनर्गल तर्कों का सहारा लेते, श्रृगार रस की महत्ता प्रतिपादित करते हुए, यहॉ तक कहते है कि "कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन मुक्त सन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसगो को अवश्य पढे। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नही है।"[55] मतलब यह कि पाठक ही अपने रुचि को बदले कविता मे केलि क्रीडा होना आवश्यक है।

'वेदो की ओर लौटो' का तात्पर्य अपने विचारो को प्राचीन बना लेना है तो निसदेह आर्य समाजी शर्मा जी ने इस सूत्र का पूरा का पूरा अनुसरण किया है। अपने पुरातन पथी साहित्यिक रुचि के चलते तुलनापरक आलोचको खासकर शर्मा जी ने हिन्दी आलोचना को उस पथ से च्युत कर दिया जो भारतेन्दु युग मे आलोचको ने दिखाया था। बावजूद इसके हिन्दी आलोचना के विकास मे शर्मा जी का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होने तुलना करने के क्रम मे साहित्य की साहित्यिक परम्परा को उद्घाटित कर दिया। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्घाटन भी साहित्यिक समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियो के मिलते–जुलते पद्यो की बिहारी के दोहो के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतमिक आलोचना का शौक पैदा किया।"[56]

कृष्ण बिहारी मिश्र

मिश्र–बन्धुओ ने अपने 'हिन्दी नवरत्न' मे देव को बिहारी से श्रेष्ठ माना वही पद्म सिह शर्मा ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ माना। तुलनात्मक आलोचको की इसी कडी मे देव की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कृष्ण बिहारी मिश्र ने किया। अपने युगीन अन्य आलोचको की अपेक्षा मिश्र जी मे नये युग की पदचाप कुछ अधिक सुनाई पडती है। 'देव और बिहारी' जो करीब 1920 के आस–पास प्रकाशित हुई थी कि भूमिका मे खडी बोली तथा ब्रजभाषा की कविता को एक करने का विचार मिश्र जी ने किया। साथ ही ब्रजभाषा को कविता से मुक्त रखने के आग्रह का विरोध भी किया। भूमिका मे मिश्र जी लिखते है–"समग्र राष्ट्र के विचार से खडी बोली मे

कविता होनी चाहिए परन्तु परिचित हिन्दी–भाषी जनता एव प्रादेशिक लोगो के हित का लक्ष्य रखकर ब्रजभाषा मे की जाने वाली कविता का गला घोटना ठीक नही। ब्रजभाषा मे कविता होने से खडी बोली की कविता को किसी प्रकार की हानि नही पहुच सकती। दोनो को मिल–जुलकर काम करना चाहिए। हमारी राय मे खडी बोली ब्रजभाषा मे प्रचलित कविता सबधी नियमो का अनुकरण करे, और ब्रजभाषा खडी बोली मे व्यक्त होने वाले सामयिक विचारो से अपने कलेवर को विभूषित करे।''[57]

खडी बोली मे व्यक्त होने वाले सामयिक विचारो को महत्ता देने के बावजूद मिश्र जी की कविता सम्बन्धी धारणा रीतिकालीन ही थी। 'देव और बिहारी' मे किसी शीतल कवि के एक छन्द जिसका अन्तिम चरण है ''जानी यह तद्‌गुण भूषण है पच रगा हार चमेली का'' पर टिप्पणी करते हुए मिश्र जी कहते है ''कुछ लोगो की राय मे खडी बोली मे कविता नही हो सकती। हम यह बात नही मानते। प्रतिभावान कवि किसी भी भाषा मे कविता कर सकता है। शीतल कवि की भाषा ब्रजभाषा न होते हुए भी उक्ति चमत्कार के कारण रमणीय है।''[58] कहने की आवश्यकता नही कि 'उक्ति चमत्कार' का प्राधान्य रीतिकालीन कविता का एक प्रमुख तत्व रहा है। कलावादी दृष्टिकोण का परिचय मिश्र जी ने 'मतिराम ग्रन्थावली' की विशालकाय भूमिका मे भी दिया है। रीतिकालीन कवियो को 'कविता' के अस्तित्व की रक्षा का श्रेय देते हुए मिश्र जी का मानना है कि ''इन्ही कवियो ने यदि प्रेम–भक्ति का दिव्यचित्र भी खीचा होता, तो क्या बात थी! वे ऐसा न कर सके, इसका खेद है, पर उन्होने जो कुछ किया उसके लिए उनको शाप देने की आवश्यकता नही है। उन्होने प्रतिकूल समय मे कविता के दीपक को बुझने से बचाया। क्या हुआ जो बुरे तेल के कारण दीपक से कुछ मलिन धुँआ भी निकला। यदि विषय–प्रेम पर कविता लिखने वाले कवियो का भी अभाव हो गया होता तो ससार से काव्यालोक का सदा के लिए विच्छेद हो गया होता।''[59] मिश्र जी का यहा तक मानना है कि ''विषय रस मे सराबोर कविता मे रमणीयता है, इसीलिए चाहे वह उपयोगी न हो और चाहे उसके द्वारा समाज मे किसी प्रकार के कुरूचि के भावो को आश्रय मिला हो, परन्तु कविता अवश्य है। कविता क्षेत्र से उसका बहिष्कार नही किया जा सकता।''[60]

'देव और बिहारी' पुस्तक मूलत 'बिहारी सतसई तुलनात्मक अध्ययन' के प्रतिक्रिया स्वरूप लिखी गयी। पद्म सिह शर्मा के उपर पक्षपात का आरोप लगाते हुए मिश्र जी लिखते है कि "इस पक्षपात का चूडान्त उदाहरण पाठको को इसी बात से मिल जायेगा कि देव-सदृश्य उच्च कोटि के श्रृगारी कवि की कविता से बिहारी के दोहो की तुलना तो दूर रही, उस बेचारे का नाम तक, सजीवनी भाष्य के प्रथम भाग मे नही आने पाया है। यदि देव और बिहारी की तुलना होती और यह दिखलाया जाता कि बिहारी लाल देव से श्रेष्ठ है, तो बात दूसरी थी।"[61]

बहरहाल मिश्र जी ने देव और बिहारी के दोहो को परस्पर सामने रखकर देव की महत्ता प्रतिपादित की। जैसे बिहारी के दोहे-

बाल कहि ला भई, लोयन कोयन भौह ?
लाल, तिहारे दृगन की परी दृगन मे छाह।
के जबाब मे देव के पद –
"काहू के रग रगै दृग रावरे रावरे रग रगे दृग मेरे"

को रखते हुए मिश्र जी सम्मति देते है कि "आपके नेत्र किसी और रग के रगे हुए है, और मेरी आंखे आपके रग मे, इसी से दोनो की आंखे रगीन है। रग मे रगना एक सुन्दर मुहाविरा है। इस मुहाविरे के बल पर ऑखो की सुर्खी का जो पता दिया गया है, वह खूब रगीन और सुकुमार है। बिहारी के दोहे मे नेत्रो मे जो लालिमा आयी है, वह दूसरे नेत्रो की छॉह पडने से पैदा हुई पर देव जी के छद मे यह रग छॉह पडने से नही आया है, वरन् सहज ही उत्पन्न हुआ है। अनुप्रास चमत्कार भी खासा है।"[62]

तुलनापरक आलोचना का एक विकृत रूप उभर आता है जब 'कविता' के वजाय 'कवि व्यक्तित्व' को लेकर आक्षेप किया गया। मिश्र जी ने देव की श्रेष्ठता सिद्ध करने मे बिहारी के चरित्र को सदिग्ध बताया है। वे लिखते है "बिहारी लाल ने परकीया का वर्णन स्वकीया की अपेक्षा अधिक किया है, और अच्छा भी किया है। इस प्रकार के वर्णनो से कवि की साहित्यिक मर्मज्ञता एव रचना चातुरी झलकती है, परन्तु कवि के चरित्र मे सन्देह होता है।"[63] तो देव के बारे में मिश्र जी का कहना

है कि "वह बिहारी लाल से अधिक चरित्रवान् समझ पडते है, उन्होने तरुणियो के मनोविकारो का वर्णन ही अधिक किया है।"[64] 'हिन्दी नवरत्न' मे मिश्र बन्धुओ ने देव के बारे मे लिखा कि "इन्होने प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियो का बडा ही सच्चा वर्णन किया है। इनका देश वर्णन देखकर कही–कही यह सदेह अवश्य उठता है कि सभवत इनका चाल–चलन बहुत ठीक नही था।"[65] का जबाब मिश्र जी ने बिहारी के चरित्र को सदिग्ध बताकर दिया है। अच्छा हुआ कि ऐसी परिपाटी 'हिन्दी आलोचना' मे आगे नही चली नही तो बेचारे कवियो को अपना 'चरित्र' बचाने के लिए न जाने क्या–क्या करना पडता।

कृष्ण बिहारी मिश्र ने तुलना करने के क्रम मे ईमानदारी का परिचय दिया है। उन्होने केवल 'काव्य चमत्कार' के आधार पर ही देव को श्रेष्ठ नही बताया, बल्कि भाषा, भाव, अलकारो कुल मिलाकर शास्त्रीय रूढि के आधार पर देव की श्रेष्ठता प्रतिपादित की।

इस पुस्तक की प्रशसा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते है "इस पुस्तक मे बडी विशिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनो बडे कवियो के भिन्न–भिन्न रचनाओ का मिलान किया गया है यह पुरानी परिपाटी की साहित्य समीक्षा के भीतर अच्छा स्थान पाने योग्य है।"[66]

एक और महत्वपूर्ण बात मिश्र जी की तुलना समीक्षा की यह रही कि उन्होंने एक ही भाषा के कवियो की आपस मे तुलना की है जबकि उनके पूर्ववर्ती आलोचक अन्य भाषा के कवियो को भी केन्द्र मे रखते थे। यह सच है कि मिश्र जी की आलोचना दृष्टि पुरातन पथी थी, लेकिन भाषा की दृष्टि से मिश्र जी, मिश्र–बन्धुओ, पद्म सिह शर्मा से अधिक चौकस, व्यवस्थित दृष्टिकोण वाले प्रतीत होते है। साथ ही अपने पूर्ववर्तीयो की अपेक्षा मिश्र जी ने कवियो के अन्तकरण मे प्रवेश करने का भी प्रयास किया है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने मिश्र जी की प्रशसा करते हुए लिखा है कि "मिश्र बन्धुओ की अपेक्षा प० कृष्ण बिहारी जी साहित्यिक आलोचना के कही अधिक अधिकारी कहे जा सकते है।"[67]

लाला भगवानदीन

'देव और बिहारी' मे कौन श्रेष्ठ है? के प्रश्न से अन्तिम बार जूझने वाले द्विवेदीयुगीन अवखड आलोचक लाला भगवानदीन है। विरोधाभासी साहित्यिक दृष्टिकोण से लाला भगवानदीन ने बिहारी को देव से श्रेष्ठ बताया। दीन जी खडी बोली मे कविता करते थे, लेकिन अध्यव्यासायिता रीतिकालीन काव्य था। भाषा मे व्याकरण पर दीन जी अधिक विचार करते थे।

आचार्य द्विवेदी जी ने भारत–भारती की प्रशसा करते हुए इससे आधुनिक कवियो को प्रेरणा लेने की बात कही थी। लाला भगवानदीन ने अपनी पत्रिका 'लक्ष्मी' मे धारावाहिक रूप से भारत–भारती की समीक्षा की और द्विवेदी जी की बात को गलत साबित करने का प्रयास किया। गुप्त जी की ''भारत–भारती' का मूल्याकन 'भाषा' के आधार पर करते हुए दीन जी का मानना है कि ''साधारण बोलचाल मे औरो की बात ही क्या स्वय गुप्त जी भी ऐसी भाषा नही बोलते। पुस्तक भर मे जगह–जगह पर व्याकरण का गला घोटा गया है। मुहावरो की मट्टी पलीद की गयी है। इसकी भाषा खडी बोली के बजाय पडी बोली, गडी बोली, कडी बोली वा सडी बोली कही जा सकती है।''[68] दीन जी को 'भारत–भारती' मे न सिर्फ भाषा सम्बन्धी दोष दिखाई पडे बल्कि विचार की दृष्टि से भी यह कृति नहीं जची। महावीर प्रसाद द्विवेदी के उपर भद्दा आक्षेप लगाते हुए दीन कहते है कि ''इसका प्रमाण देना आवश्यक नही जचता कि जो विचार इस पुस्तक मे प्रगट किये गये है वे सब पुराने ही है इस बात को सभी पाठक जानते है की यही विचार अनेक लेखको ने अनेक पत्रो मे इस पुस्तक की रचना से बहुत पहले प्रकट किये थे। हा, सब विचारो को एकत्र कर देने का श्रेय बेशक गुप्त जी पा सकते है, पर महाबीरी शाबासी नही। दो वर्ष तक परिश्रम करके जो व्यक्ति कुछ नवीन विचार न प्रगट कर सके वह व्यक्ति कवि कहलाने का कहा तक उपयुक्त पात्र हो सकता है, इस पर पाठक स्वय विचार कर सकते है।''[69] अपने रीतिवादी सस्कारों के कारण ही दीनजी कविता मे उक्ति वैचित्र्य की तरह विचार वैचित्र्य की अपेक्षा रखते थे, इसी पूर्वग्रहीता के कारण 'भारती–भारती' का आधुनिक दृष्टिकोण से मूल्यांकन नही कर पाये। गुप्त जी के अन्य काव्य 'जयद्रथबध' की आलोचना करते हुए दीन जी ने इसे

भी एक हीन कृति करार दिया। 'लक्ष्मी' जुलाई, अगस्त, सितम्बर 1915 के अपनी लेख माला मे दीन जी ने बार–बार 'जयद्रथ–बध' के बजाय 'मैथिली शरण गुप्त' की आलोचना की। दीन जी ने व्यग्य, उपहास के साथ–साथ कटुक्ति की छौक देते हुए 'जयद्रथ बध' की भाषा पर टिप्पणी की है "गुप्त जी की कविता को लोग 'खडी बोली' की कविता कहा करते है। परन्तु हमारी समझ मे गुप्त जी की कविता को खडी बोली की कविता कहना भारी भूल है। गुप्त जी ने अपनी कविता के लिए एक विशेष मिश्रित भाषा तैयार की है। जिसे खिचडी बोली कह सकते है।"[70] खिचडी बोली को रूपकात्मक तौर से विश्लेषित करते हुए दीन जी लिखते हैं "इसमे सस्कृत के चावल खडी बोली की दाल, सस्कृत और बगला भाषा के मुहावरो की अदरक, उर्दू फारसी शब्दो की सोठ मिर्च, ब्रजभाषा और बुन्देल खण्डी मुहावरो का नमक और स्वेच्छापूर्वक नियमोल्लघन का घृत मिलाया गया है। थोडे से अगरेजी शब्दो की हल्दी भी डाल दी गई है। कुछ शब्द गुप्त जी के 'सखुन तकिया' है, वे व्यर्थ वा पादपूर्ति के लिए ढूस दिये जाते है। यह पियाज की बघार का काम दे जाते है। शायद कोई पन्ना ऐसा न होगा जो हमारे इस कथन की पुष्टि न करता हो।"[71] टीकाकार आलोचक दीन जी ने गुप्त जी के नव विचारो से युक्त, नूतन काव्य पद्धति का मर्म नही समझा है इसीलिए उन्होने अनर्गल प्रलाप किया है।

1926 मे प्रकाशित 'बिहारी और देव' पुस्तक लिखने का कारण दीन जी के लिए यह रहा कि "हाल मे प० कृष्ण बिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नामक पुस्तक लिखकर प्रकाशित करायी है। यह पुस्तक बडे अच्छे ढग से लिखी गयी है। भाषा भी 'नवरत्न' की भाषा से अच्छी है। पर इसमे उक्त लेखक ने अंत मे यही नतीजा निकाला है कि 'बिहारी' की अपेक्षा देव श्रेष्ठतर कवि थे। हमने भी बिहारी और देव के ग्रन्थो का अध्ययन किया है अत इस विषय पर हमे भी कुछ लिखने का अधिकार है।"[72] 'बिहारी और देव' मे दीन जी ने मिश्र बन्धुओ और प० कृष्ण बिहारी मिश्र द्वारा लगाये गये दस आक्षेपो का जबाब दिया और बिहारी को देव से श्रेष्ठ माना। मिश्र बन्धुओ की आलोचना करते हुए दीन जी ने यहा तक लिखा है कि "देव, बिहारी, केशव इत्यादि के ग्रन्थो को समझना, उनका शुद्ध पाठ जानना

और जिस साहित्यिक मर्मज्ञता का परिचय उन कविताओ में है उसकी बारीकी तक पहुचना आजकल के ग्रेजुएटो के वश की बात नही।"[73]

बिहारी, दीन जी की नजर मे प्राकृतिक कवि थे जबकि देव टुकपिट कर कवि बने थे। देव भावापहरण के कवि थे, बिहारी नैसर्गिक। लाला जी का मानना है कि "हम बिहारी को एक महाकवि मानते है और देव को तुक्कड कवि (पर तुक्कडो मे अच्छा)।"[74] देव को नीचा दिखाने के क्रम मे दीन जी यहां तक कहते है कि "देव हिन्दी साहित्य को बदनाम करने वाला प्रथम कवि है।"[75] 'केशव-पचरत्न' की 'आकाशिका' मे भी दीन जी ने तुलनात्मक पद्धति से केशव को सूर-तुलसी से श्रेष्ठ माना है। दीन जी लिखते है कि "राम और कृष्ण के भक्तो ने तुलसी और सूर का गुण गा-गाकर सर्वसाधारण के मन मे आसन जमवा दिया है पर काव्य कला चातुरी के विचार से देखा जाय तो केशव का स्थान उनसे ऊपर होगा। हा महात्मा और भक्त कवियो मे सूर-तुलसी, को ऊँचा स्थान मिल सकता है, पर काव्य कलाधर मे तो हम केशव ही को सर्वोच्च स्थान देने की राय देगे।"[76]

इसी आक्रामकता तथा अनर्गल प्रलाप से दीन जी ने रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित चितामणि' की भी आलोचना की है। वस्तुत दीन जी की शैली में जो व्यग्य, निर्भिकता, वाद-विवाद की वक्रता, चुटीलापन और आक्रामक जबॉदानी दिखाई पडती है, वह पूरे द्विवेदी युग की रही है। लेकिन रीतिकालीन सस्कारो के कारण दीन जी ने द्विवेदी युगीन परम्परा का सम्यक् निर्वाह नही किया है। नन्द किशोर नवल का तो यहा तक मानना है कि "मिश्र बन्धुओं और प० कृष्ण बिहारी मिश्र की आलोचना की त्रुटिया दिखलाने मे एक सीमा तक कृतकार्य होने के बावजूद दीनजी की आलोचना गुण-दोष विवेचनपरक और तुलनात्मक आलोचना का बहुत ही सतही रूप हमारे सामने रखती है।"[77]

(ङ) बाल मुकुन्द गुप्त

भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग की सन्धि रेखा से अपनी पत्रकारिता शुरू करने वाले बालमुकुन्द गुप्त मूलत पत्रकार थे, आलोचक नही। द्विवेदी युग मे भी

आलोचना पत्र–पत्रिकाओ के माध्यम से पुस्तक समीक्षा के रूप मे या स्वतन्त्र निबन्ध के रूप मे अपना रास्ता चुनती है। यह और बात है कि 1910 से हिन्दी आलोचना पुस्तककार रूप मे भी मिलती है, लेकिन इसकी आलोचना पद्धति तुलनात्मक अधिक रही है, स्वतन्त्र विवेचन के रूप मे कम।

पत्रकार होने के बावजूद बाल मुकुन्द गुप्त ने अश्रुमति नाटक, अद्धखिलाफूल, गुलशन–ए–हिन्द, तुलसी सुधाकर, तारा उपन्यास, प्रवासी की आलोचना, बगला साहित्य आदि की समीक्षा की है। समीक्षा मे गुप्त जी ने रचना के जाति, समाज, देश, भाषा पर बराबर दृष्टि रखी है। जैसे–अश्रुमति की समीक्षा करते हुए गुप्त जी लिखते है "साहित्य जहन्नुम मे जाये, हमको साहित्य से कुछ मतलब नही है। हमको जो कुछ मतलब है इस पुस्तक से है, वह हिन्दू धर्म लेकर, राजपूतो का गौरव लेकर और हिन्दू पति महाराणा प्रताप सिह की उज्जवल कीर्ति लेकर है।"[78]

अपनी पत्रकारिता मे जो तेजस्विता, निर्भिकता गुप्त जी ने दिखाई वैसी उनकी आलोचना नही है। वास्तव मे गुप्त जी प्रकृति से पत्रकार थे, 'साहित्यिक आलोचना' गुप्त जी की इष्ट नही थी, पत्रकारिता ही मुख्य थी।

(च) आचार्य द्विवेदी के सहयोगी आलोचक

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने एक समीक्षक के रूप में जो रीति–नीति बनायी थी, उन्ही के समकालीन आलोचको ने तुलनात्मक–परम्परा की शुरूआत कर द्विवेदी जी इतर समीक्षा की। यद्यपि इन पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। लेकिन इस युग मे द्विवेदी जी की परम्परा को आगे बढाने वाले भी आलोचक रहे है, यद्यपि उनका लेखन स्फुट ही रहा है। उदाहरणार्थ कुछ नाम यो है – अबिकादत्त वाजपेयी (हिन्दी काव्य की आलोचना), कन्हैया लाल पौद्दार (कालिदास की वैवाहिक कविता), सोमेश्वर दत्त शुक्ल (तुलसीदास की अद्भूत उपमाए), चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (जय सिह प्रकाश काव्य), विश्वनाथ (कवि का कर्तव्य), इन्दू शर्मा (कालिदास की निरकुशता) इन्द्रजीत सिह बी0ए0 (शकुन्तला रहस्य), बद्रीनाथ भट्ट (नाटक और नाट्यकला का ह्रास,हमारे कवि और समालोचक,

ताल्सटाय और शेक्सपियर), अक्षयवट मिश्र (तुलसीदास की नव रसमयी कविता), राम दहिन मिश्र (साहित्य किसे कहते है), कालिदास कपूर (सत्य हरिश्चन्द्र नाटक, सेवा सदन, समालोचना, राम चरित मानस का महत्व), कामता प्रसाद गुरु (हिन्दी नाटको की भाषा), मालवी प्रसाद श्रीवास्तव (हिन्दू नाटक), मुकुट धर पाण्डेय (गीताजलीका दुख, भविष्यत् मे हिन्दी का रूप क्या होगा?) आदि। मूलत उपर्युक्त लेखक निबन्धकार है। कुछ के निबन्धो का विषय प्राचीन साहित्य रहा है तो कुछ के समसामयकि विषय। लेकिन एक खास विशेषता यह रही है कि सबमे आदर्शवादी स्वर प्रधान रहा है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है, द्विवेदी युग में हिन्दी आलोचना का विकास मूलत दो धाराओ मे हुआ है। पहली धारा द्विवेदी जी और उनके समान विचार भूमि वाले आलोचको की है तो दूसरी धारा तुलनात्मक आलोचको की है। तुलनात्मक आलोचको का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होने आलोचना की पुस्तककार रूप मे उपलब्ध कराया साथ ही रीतिकालीन काव्य की विवेचना भी प्रस्तुत की, यह और बात है कि इसकी गुणवत्ता को लेकर सशय है।

(छ) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

भारतेन्दु युग से आरम्भ आधुनिक हिन्दी आलोचना द्विवेदी युग मे न केवल अपने बाहरी कलेवर मे बदली नजर आती है, बल्कि अपने अन्त करण मे नये–नये भावबोध से सम्पृक्त होकर अग्रसर होती है। अग्रेजी, बगला, मराठी, गुजराती आदि अन्य भाषाओ से प्रेरणा ग्रहण करती 'हिन्दी आलोचना' अपने 'जातीय स्वरूप' की पहचान बनाने लगी जिसको अमलीजामा रामचन्द्र शुक्ल और उनके परवर्ती आलोचको ने पहनाया। द्विवेदी युगीन भाषा परिष्करण से इस युग मे 'हिन्दी' का रूप निखर आया। काव्य और गद्य की बोली के एकीकरण से न सिर्फ हिन्दी साहित्य समृद्ध होता है, बल्कि एक ऐसी दुनिया का निर्माण होता है जिसमे छायावाद, प्रेमचन्द्र, रामचन्द्र शुक्ल का आविर्भाव होता है।

पाश्चात्य और भारतीय चितन से निर्मित, आधुनिक भाव बोध से युक्त आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आलोचना' को साहित्य की अन्य विधाओ के समकक्ष खडा किया। 1920 के आस–पास न सिर्फ कविता मे बल्कि उपन्यास, कहानी के क्षेत्र मे भी नव विचारो से युक्त साहित्यिक परम्परा का चलन शुरू हुआ। आलोचना मे इस कार्य को आरम्भ करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। आचार्य शुक्ल के नव विचारो के निर्माण मे जर्मनी के प्रसिद्ध प्राणि तत्ववेत्ता हैकेल की पुस्तक 'रिडिल आफ दी यूनिवर्स' का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। इस पुस्तक का अनुवाद आचार्य शुक्ल ने 'विश्वप्रपच' के नाम से 1920 मे किया है। इसकी 'स्वस्थ भूमिका' मे आचार्य शुक्ल जी ने न सिर्फ हैकेल के विचारो को समझने, समझाने का प्रयास किया है, बल्कि भारतीय चिन्तन से इसके तालमेल को भी उचित अवसर पर दिखाया है। धर्म और आचार के सम्बन्ध मे आचार्य शुक्ल का कहना है "लोक व्यवहार और समाज विकास की दृष्टि से धर्म और आचार की व्याख्या की गई है, परलोक और अध्यात्म की दृष्टि से नही। दूसरे के प्रति जो आचरण हम करते है, उसी मे अच्छे और बुरे का आरोप हो जाता है।"[79]

भूमिका मे आचार्य शुक्ल ने विस्तार से भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि पर विचार किया है। विकासवाद की परिकल्पना को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने भौतिक जगत को ही वास्तविक संसार माना है। भौतिक जगत की स्वीकृति के साथ ही शुक्ल जी ने अध्यात्म, अज्ञात के प्रति लालसा–रहस्यवाद को काव्य के परे की वस्तु माना। 'विश्व प्रपच' की भूमिका में आचार्य शुक्ल के जो विचार रहे है उसका विस्तार तुलसी–जायसी–सूर सम्बन्धी विवेचना मे मिलता है।

समालोचना के सन्दर्भ मे आचार्य शुक्ल की स्पष्ट मान्यता थी कि "समालोचना के लिए विद्वता और प्रशान्त रूचि दोनों अपेक्षित है, न रूचि के स्थान पर विद्वता काम कर सकती है और न विद्वता के स्थान पर रूचि। अत विद्वता से सम्बन्ध रखने वाली निर्णयात्मक आलोचना और रूचि से सम्बन्ध रखने वाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनो आवश्यक है।"[80] तुलसी, जायसी, सूर के साथ–साथ अपने आलोचनात्मक हिन्दी साहित्य के इतिहास मे आचार्य शुक्ल ने हृदय और बुद्धि के

सामजस्य से आलोचना का मानदण्ड निर्मित किया है। साथ ही रस, कल्पना, प्रतीक को लेकर भी विवेचन प्रस्तुत कर हिन्दी आलोचना को समृद्ध किया।

अपने आलोचकीय बीज शब्द 'लोकधर्म' को लेकर आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास पर विचार किया है। यह लोकधर्म क्या है? शुक्ल जी के अनुसार "ससार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक–एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा, वही लोकधर्म होगा। जनता की प्रवृत्तियो का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक धर्म है।"[81] तुलसीदास सगुण भक्ति शाखा के कवि रहे है। सगुण भक्ति के तीन सोपानो को व्याख्यायित करते हुए आचार्य शुक्ल लिखते है कि सौन्दर्य, शक्ति और शील ये तीन सोपान है सगुण भक्ति मे, और तुलसीदास ने "सौन्दर्य के प्रभाव से हृदय को वशीभूत करके शक्ति के अलौकिक प्रदर्शन से उसे चकित करते हुए अत मे वे उसे 'शील' या धर्म के रमणीय रूप की ओर आप से आप आकर्षित होने के लिए छोड देते है।"[82]

तुलसीदास का महत्व शुक्ल जी के लिए इसलिए भी है कि जहा अन्य कवियो का अधिकार मनुष्य की एक–दो वृत्तियो पर ही था, वही तुलसीदास का अधिकार "मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मक सत्ता"[83] पर था।

तुलसीदास के भाषा– बैशिष्ट्य को रेखाकित करते हुए शुक्ल जी ने तुलसीदास की भाषा को जायसी–सूर की भाषा से श्रेष्ठ माना है। तुलसीदास की भाषा शुक्ल जी के अनुसार "भाषा की सफाई और वाक्य रचना की निर्दोषित"[84] से युक्त है। तुलसी, सूर की भाषा मे अन्तर स्पष्ट करते हुए शुक्ल जी अपने इतिहास मे लिखते है कि "सूरदास मे ऐसे वाक्य मिलते है जो विचारधारा को आगे बढाने मे कुछ भी योग देते नही पाए जाते केवल पाद पूत्यार्थ ही लाए हुए जान पडते है इसी प्रकार तुकान्त भी के लिए शब्द भी तोडे गये है पर गोस्वामी जी की काव्य रचना अत्यन्त प्रौढ और सुव्यवस्थित है एक शब्द भी फालतू नही है।[85]

शुक्ल जी ने अपने विवेचन से तुलसीदास के सत्व को उभार कर 'हिन्दी आलोचना' को एक मानक प्रदान करने का स्तुत कार्य किया है। द्विवेदी युग के तुलनात्मक समीक्षको ने सूर, तुलसी को रीतिकालीन कवियो के समक्ष हीन ठहराने

का प्रयास किया था। शुक्ल जी ने अपने तार्किक विश्लेषण से हिन्दी आलोचना मे छाये कुहासे को साफ कर इसे नयी भाव भूमि से सपृक्त कर 'तुलसी–सूर' की पुन प्रतिष्ठा की।

'जायसी' को हिन्दी काव्यधारा मे शुक्ल जी के पहले अछूत माना जाता रहा। शुक्ल जी ने अपने विश्लेषण से 'जायसी' को हिन्दी की 'त्रिवेणी' मे स्थान दिलाया। 'जायसी' पर किये उनके कार्य को बाद मे वासुदेव शरण अग्रवाल, माता प्रसाद गुप्त आदि ने आगे बढाया, जिसको परिमार्जित, परिसस्कृति कर नये युग बोध से विश्लेषित करने का काम विजय देव नारायण साही ने किया।

'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका आचार्य शुक्ल की सर्वश्रेष्ठ आलोचनात्मक कृति है। भूमिका मे आचार्य शुक्ल ने बडी तन्मयता से विशद तार्किक विश्लेषण और वैज्ञानिक इतिहास–दृष्टि से सूफीमत और सूफी कवियो का हिन्दी भाषी जनता पर पडे प्रभाव के साथ–साथ जायसी के 'पद्मावत' का विश्लेषण किया है।

महत्वपूर्ण बात यह है कि शुक्ल जी ने 'रहस्यवाद' को कविता के बाहर की वस्तु माना, लेकिन उन्होने सूफी कवियो खासकर 'जायसी' के रहस्यवाद को स्वीकार किया। शुक्ल जी का मानना है कि "अद्वैतवाद के दो पक्ष हैं– आत्मा और परमात्मा की एकता तथा ब्रह्म और जगत की एकता दोनो मिलकर सर्ववाद की प्रतिष्ठा करते है, सर्व खल्विद ब्रह्म। यद्यपि साधना के क्षेत्र मे सूफियो और पुराने ईसाई भक्तो द्वारा दोनो की दृष्टि प्रथम पक्ष पर ही दिखाई देती है पर भावक्षेत्र मे जाकर सूफी प्रकृति की नाना विभूतियो मे भी उसकी छवि का अनुभव करते आए है।"[86]

'कवि भावुकता' शुक्ल जी की आलोचना की एक कसौटी है। जायसी मे 'कवि भावुकता' को परखते हुए शुक्ल जी का निष्कर्ष है कि "अपनी भावुकता का बडा भारी परिचय जायसी ने इस बात मे दिया है कि रानी नागमती विरह दशा मे अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप मे देखती है। इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह वाक्य छोटे–बडे सब हृदयो को समान रूप से स्पर्श करते है।"[87]

'पद्मावत' के 'नागमती वियोग वर्णन' को शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि स्वीकार किया है। जायसी के वर्णन को हिन्दी, सस्कृत, फारसी कवियो से तुलना करते हुए शुक्ल जी ने इसे श्रेष्ठ माना है। जैसे "जब पेड–पौधे सूख रहे थे, तब पक्षी भी आश्रय न पाकर ताप से झुलस रहे थे। इस प्रकार नागमती की वियोग दशा का विस्तार केवल मनुष्य जाति तक ही नही, पशु–पक्षियो और पेड–पोधो तक दिखाई पडता था। कालिदास ने पाले हुए मृग और पौधो के प्रति शकुतला का स्नेह दिखाकर इसी व्यापक और विशद भाव की व्यजना की है।"[88] जायसी के पद्मावत को प्रेम गाथा' स्वीकार करते हुए शुक्ल जी ने इसे सूफी कवियो की प्रेमगाथा मे सर्वश्रेष्ठ माना है। 'लोककथा' की 'लोकभाषा' को महत्वपूर्ण मानते हुए शुक्ल जी कहते है कि "जायसी की भाषा बहुत मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य 'भाषा' का माधुर्य है, सस्कृत का माधुर्य नही।. उसमे अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए है।"[89]

'भ्रमरगीत सार की भूमिका' मे शुक्ल जी ने सूरदास के वैशिष्ट्य को उभारा। सूरदास के ऊपर पुस्तक लिखने का उपक्रम शुक्ल जी ने किया था, लेकिन देहावसान के कारण यह कार्य पूर्ण न हो सका। इसके दो अध्याय 'भक्ति का विकास' और 'श्री बल्लभाचार्य', ही वे लिख पाये थे। इन दोनों अध्यायो के साथ 'काव्य मे लोकमगल' निबन्ध तथा उनके इतिहास मे सूरदास का जीवनवृत्त लेकर विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के सम्पादकत्व मे नागरी प्रचारिणी सभा ने 1943 मे 'सूरदास' का प्रकाशन किया है।

द्विवेदी युग मे जहा देव, बिहारी को श्रृगार रस का सबसे बड़ा कवि माना गया, वही आचार्य शुक्ल ने इससे उलट यह स्थान सूरदास को दिया है। सूरदास को वात्सल्य और श्रृंगार का कवि मानते हुए शुक्ल जी ने सूरदास के वात्सल्य वर्णन को तुलसीदास बल्कि पूरे हिन्दी साहित्य से श्रेष्ठ माना। श्रृंगार वर्णन के क्रम में शुक्ल जी ने सूरदास के सयोग और वियोग दोनो पक्षो की गहरी मीमांसा की है।

लोक सस्कृति से जुडाव के कारण आचार्य शुक्ल ने सूरदास के श्रृगार वर्णन को रीतिकालीन श्रृंगार वर्णन से श्रेष्ठ माना। आचार्य शुक्ल लिखते है "प्रेम नाम की

मनोवृत्ति का जैसा विस्तृत और पूर्ण परिज्ञान सूर को था, वैसा और किसी कवि को नही। इनका सारा संयोग वर्णन लम्बी–चौडी प्रेमचर्या है जिसमे आनन्दोल्लास के न जाने कितने स्वरूपो का विधान है। रासलीला दानलीला, मानलीला इत्यादि सब उसी के अन्तर्भूत है। पीछे देव कवि ने एक 'अष्टयाम' रचकर प्रेम चर्चा दिखाने का प्रयत्न किया, पर वह अधिकार एक घर के भीतर के भोग–विलास की कृत्रिम दिनचर्या के रूप मे है। उसमे न तो अनेक रूपता है न प्राकृतिक जीवन की वह उमग।"[90] 'वियोग वर्णन' मे सूरदास के विस्तार–स्थल' को महत्वपूर्ण मानते हुए आचार्य शुक्ल कहते है "विरह वर्णन भी बैरिन भई रतिया और सापिन भई सेजिया, तक ही न रहकर प्रकृति के खुले क्षेत्र के बीच दूर–दूर तक पहुचता है।"[91] द्विवेदी युग मे जहा रीतिवादी आलोचको ने काव्य कलाधरो मे केशव, देव बिहारी को श्रेष्ठ माना वही आचार्य शुक्ल ने सूर, तुलसी, जायसी के भाव पक्ष और कला पक्ष का विस्तृत विवेचन कर उक्त मान्यता को असत्य सिद्ध कर दिया। सूरदास के कवि रूप की दो विशेषताओ (वाग्विदग्धता और नवीन प्रसगो की उद्भावना क्षमता) का उल्लेख करते हुए आचार्य शुक्ल का मानना है कि "किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढे–सीधे ढग उन्हे मालूम है"[92] और "सूर की प्रकृति कुछ क्रीडाशील थी तथापि उनकी वाग्विदग्धता प्राय भाव प्रेरित है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण उनका भ्रमरगीत है जिसमे गोपिकाए अपनी वाग्विदग्धता के बल पर ही उद्धव को निरूत्तर कर देती है। यह वाग्विदग्धता रसात्मक है, कोरी वचन चातुरी नहीं।"[93] नवीन प्रसगो की उद्भावना मे सूर, तुलसीदास से श्रेष्ठ है।

सूरदास के भाषा वैशिष्ट्य को उभारते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि "सूर मे चलती भाषा की कोमलता है, वृत्ति विधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है।"[94] भाषा विवेचन के क्रम मे ही आचार्य शुक्ल ने सूरदास द्वारा तुलसीदास जैसी भाषा न लिख पाने का कारण उनकी जीवनगत परिस्थितिया को माना "अधे होने के कारण लिखे पदो को सामने रखकर काटने–छांटने या हरताल लगाने का उन्हे वैसा मौका न था जैसा तुलसीदास को।"[95] अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे जो मूल रूप से हिन्दी शब्द सागर की भूमिका है और जिसे 'हिन्दी साहित्य का विकास' नाम से लिखा गया था– आचार्य शुक्ल ने कहा है कि" जबकि प्रत्येक देश

का साहित्य वहा की जनता की चित्तवृत्ति का सचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप मे परिवर्तन होता जाता है।''[96] चित्तवृत्ति' से आचार्य शुक्ल का तात्पर्य 'भाव' से है। 'भाव' या 'रस' के आधार पर ही आचार्य शुक्ल ने कवियो के अन्त करण की छानबीन की है। 'भाव' या 'रस' हीन होने के कारण ही आचार्य शुक्ल ने सिद्धो नाथो के साहित्य को शुष्क, नीरस मानकर उसे साहित्य की कोटि मे नही रखा, रीतिकालीन साहित्य को जनता से कटा हुआ दरबारी सस्कृति का पोषक माना।

द्विवेदी युगीन हिन्दी आलोचना मे नैतिकता के साथ–साथ तुलनात्मक प्रवृत्ति का जोर था। आचार्य शुक्ल मे भी इसे परिलक्षित किया जा सकता है। लेकिन किसी भी कवि को 'हीन' या 'श्रेष्ठ' बताने के क्रम में शुक्ल जी ने रीतिवादी प्रवृत्ति का सहारा नही लिया है। वैज्ञानिक तरीके से, तथ्यो के आधार पर ही अपना निर्णय दिया है। जैसे तुलसीदास की कविता को श्रेष्ठ मानते हुए भी वह तुलसी के 'स्त्री प्रसग' को युगानुरूप नही मानते और जायसी मे इसी प्रसग को अधिक महत्वपूर्ण मानते है। सूर के वियोग वर्णन को श्रेष्ठ मानते हुए भी उसे 'लोक से परे' मानते है। सन्तकाव्य को अस्वीकार करने के बावजूद 'कबीर' की महत्ता को रेखाकित करते है। दरबारी सस्कृति से युक्त रीतिकालीन कविता मे केशव के सवाद योजना को तुलसी से श्रेष्ठ मानते है। घनानन्द की भाषा को ब्रजभाषा की श्रेष्ठ परम्परा बताते हुए आचार्य शुक्ल लिखते है ''प्रेम मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबादानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नही हुआ है।''[97] घनानन्द की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग वैचित्र्य को महत्व देते हुए इसे आधुनिक काल के कवि जयशकर प्रसाद मे भी लक्षित करते है। आचार्य शुक्ल ने अपनी रसग्राही, मर्मोद्घाटक बुद्धि से तुलसी के लोकवादी, सूर के जीवनोत्सव तथा जायसी के 'प्रेम की पीर' को पहचाना।

आचार्य शुक्ल ने जहा 'हिन्दी आलोचना' को सुसंगत वैज्ञानिक दृष्टिकोण से निर्मित किया, उसी तरह अपनी आलोचकीय भाषा का भी निर्माण किया। भारतीय काव्यशास्त्र के साथ–साथ पाश्चात्य काव्यशास्त्र से शब्द लेकर उसका शोधन किया, वही जहा कही शास्त्र का सहारा नही मिला तो नये शब्दो का गढन भी किया।

पाडित्यपूर्ण होने के बावजूद, हास्य, व्यग्य का पुट लेकर, सब कुछ साफ–साफ तार्किक तरीके से कहने की पक्षपाती है आचार्य शुक्ल की भाषा।

इन सारी विशेषताओ के बावजूद आचार्य शुक्ल ने 'छायावाद' के विवेचन मे दूरदर्शिता नही दिखाई। छायावाद उन्हे विदेशी भाव–युक्त, रहस्यवादी अभिव्यक्ति की कविता लगी। जिसके चलते उन्होंने छायावाद को हिन्दी की स्वत निर्मित काव्यधारा नही माना। फिर भी आचार्य शुक्ल का 'हिन्दी आलोचना' को निर्मित करने, उसे वैज्ञानिक तार्किक विश्लेषणात्मक बनाने मे महत्वपूर्ण योगदान है। डॉ० रामविलाश शर्मा, आचार्य शुक्ल का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखते है "हिन्दी साहित्य मे शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द्र या कवि निराला का। उन्होने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती सस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द्र और निराला ने।"[98]

(ज) प्राध्यापकीय आलोचना

बाबू श्याम सुन्दर दास

शिक्षा के बढते प्रचार–प्रसार से उच्च कक्षाओं मे हिन्दी साहित्य मे स्तरीय सामग्री की जरूरत को पूरा कराने का श्रेय बाबू श्याम सुन्दर दास को है। आलोचना की एक नई शैली जिसे व्यग्य मे 'प्राध्यापकीय आलोचना' कहा जाता है को आरम्भ करते हुए बाबू श्याम सुन्दर दास ने कई स्तरीय आलोचनात्मक ग्रन्थो का लेखन, सम्पादन किया।

बाबू श्याम सुन्दर दास की आलोचना मे वह गहराई नहीं है जैसी शुक्ल की आलोचना मे है। लेकिन तार्किक उदारग्रहिता बहुत अधिक है। तार्किक उदारता इस अर्थ मे कि बाबूसाहब ने प्राचीनता के प्रति अतिरिक्त अनुग्रह रखने के बावजूद नये भाव बोधो की उपेक्षा नही की है।

बाबू श्याम सुन्दर दास ने काव्य को कला के अन्तर्गत स्वीकार कर कला और अभिव्यजना, कला और मन, कला और प्रकृति, कला और आचार जैसे नये

विषयो को पाश्चात्य धारण के साथ भारतीय शास्त्रीय परम्परा से मिलाने का प्रयत्न किया है। साहित्य पर पडने वाले प्रभावो मे साहित्यकार का प्रभाव प्रमुख होता है, ऐसी मान्यता बाबू साहब ने कई बार व्यक्त की है। "साहित्यकार जो कुछ लिखता है उस पर उसके विचारो और मनोभावो की अटल छाप रहती है। वह मनुष्य मात्र की आकाक्षाओ, इच्छाओ और भावनाओ को प्रकट करता है। किन्तु वह इन सबको अपने ढग से स्वरूप देकर अपनी रुचि के अनुसार उपस्थित करता है।"[99]

'कबीर ग्रन्थावली' की प्रस्तावना मे बाबू श्याम सुन्दर दास ने कबीर का महत्वपूर्ण विवेचन किया है। इस प्रस्तावना मे जहां कबीर के सिद्धान्तो, उपदेशो को उनके व्यक्तित्व का अग मानते हुए उसे मगलकारी सिद्ध करने का प्रयत्न है, वही पहले–पहल शुक्ल जी द्वारा लगाये आक्षेपो का उत्तर देने का भी प्रयास है। 'हिन्दी साहित्य' मे हिन्दी साहित्य के इतिहास के विवेचन क्रम में कही–कही बाबू श्याम सुन्दर दास ने शुक्ल जी से मतान्तर भी व्यक्त किया है। साथ ही कबीर आदि निर्गुण कवियो के साथ–साथ 'छायावाद' पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया है।

वस्तुत प्राध्यापकीय आलोचना 'यह भी सही वह भी सही' के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण जीवन्त आलोचना नही बन पाती यही बाबू साहब के साथ भी हुआ।

(झ) छायावादी कवि आलोचक

'छायावाद' के ऊपर शुक्ल जी सहित तमाम आलोचको ने सहानुभूतिपूर्वक विचार नही किया। 'छायावाद' के कवियो ने स्वय पहल करते हुए अपनी कविताओ, विचारो को व्याख्यायित करने का यत्न किया। 'नये प्रतिमानो' की वकालत करते हुए इन कवि आलोचको न सिर्फ पुराने साहित्यिक मानदण्डो का विरोध किया बल्कि नये–मूल्यो के प्रश्न पर आचार्य द्विवेदी, आचार्य शुक्ल से टक्कर भी ली। 1926 मे प्रकाशित 'पल्लव' कविता सग्रह के 'प्रवेश' मे पन्त जी ने नये सृजन का ही नही, आलोचना के नये प्रतिमानो की वकालत भी की। पन्त जी ने साफ–साफ लिखा है कि "हिन्दी मे सत्समालोचना का बडा अभाव है। रस गंगाधर काव्यादर्श आदि की

वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी, सचार, व्यभिचारी आदि भावो का जो कुछ सचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो, वह विश्व भारती के आधुनिक विकसित तथा परिष्कृत स्वरो मे न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी मे सत्साहित्य की सृष्टि भी नही हो सकती।''[100]

रहस्यवाद तथा उससे जुडे प्रश्नो को लेकर जयशकर प्रसाद, शुक्ल जी से टकराते है तो पन्त की टक्कर 'सुकवि किकर' महावीर प्रसाद द्विवेदी होती है, निराला भी साहित्य की नवीन प्रगति पर सुकवि किकर से टकराते है। एक तरफ इन कवियो की टक्कर साहित्य के बडे आलोचको से हो रही थी तो दूसरी तरफ स्वय आपस मे भी वैचारिक युद्ध हो रहा था। 'पल्लव' मे पन्त ने निराला के 'छन्दो के बारे मे विचार से' मतभेद व्यक्त किया तो निराला ने 'पन्त और पल्लव' लेख माला मे पन्त की कविताओ की आलोचना की। व्यक्तिगत वैचारिक मतभेद के बावजूद इन सभी कवि आलोचको ने परम्परा से चली आती समीक्षा की प्रणाली को बदलने का आग्रह किया। पन्त ने जहा 'रसवाद' को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया, वही प्रसाद ने दार्शनिक धरातल पर सस्कृति और परम्परा से इसका जुडाव तर्कसम्मत व्याख्या करके जोडा।

शिल्प की दृष्टि से इन्होने रीतिकालीन मानदण्डो के बजाय एक नये शिल्पबोध की आवश्यकता पर बल दिया। पल्लव में पन्त का 'काव्य भाषा' विषयक विश्लेषण इसका प्रमाण है। पन्त और निराला की छन्द विषयक मान्यता भी इसी से सदर्भित है। तात्पर्य यह कि ये कवि 'वस्तु और रूप' दोनों ही स्तरो पर एक नये काव्य बोध की आवश्यकता का प्रयत्न कर रहे थे, और अपने समसामयिक अनुरोधो की दृष्टि से अपने काव्य की व्याख्या और अपना पक्ष समर्थन भी करते जाते थे। पन्त की काव्य भाषा, निराला की अर्थ मीमासा, प्रसाद के द्वारा 'छायावाद और यथार्थवाद' का सम्बन्ध निरुपण, प्रगतिवाद के सन्दर्भ मे महादेवी का छायावाद का समर्थन इसी प्रयास के तहत है।

सच तो यह है कि ये कवि न तो पेशेवर आलोचक ही थे और न ही इन्होंने समीक्षा मुख्य कर्म के रूप मे की। छायावाद के उपर लगे आरोपो का जबाब देने का प्रयास ही इन कवियो ने किया है। इस कार्य मे उन्होने कुछ मौलिक प्रयास भी किये है जिससे न सिर्फ 'हिन्दी आलोचना' समृद्ध होती है, बल्कि आलोचना को नयी दिशा दृष्टि भी मिलती है। गद्य को जीवन सग्राम की भाषा' का आग्रह निराला ने किया तो प्रसाद ने 'रहस्यवाद' को भारतीय चितनधारा से जोडा जिससे छायावाद के रहस्यवाद पर लगे आरोपो को बहुत कुछ निराकरण हो जाता है तो महादेवी वर्मा ने गीत विषयक निबन्ध मे लोकगीतो के आधार गीतकाव्य की विशेषताए बतायी और छायावाद को प्रगतिशील आन्दोलन के प्रकाश मे 'सामाजिक यथार्थवादी' माना।

(ञ) प्रभाववादी आलोचना

शांतिप्रिय द्विवेदी

प्रभाववादी आलोचक शाति प्रिय द्विवेदी ने छायावादी काव्य को लेकर जो समीक्षा प्रस्तुत की है, उसकी भाषा शैली भी छायावादी ढग की है, लेकिन विचारक्रम मे वे छायावाद की विशेषता के साथ–साथ उसकी सीमा रेखा भी बताते चलते है। इससे यह आभासित होता है कि वे 'छायावाद' को उसके सम्पूर्ण मनोभूमि मे समझने का प्रयत्न करते है। 'छायावाद' को तत्कालीन राजनीतिक पृष्ठभूमि मे रखकर उस पर गाधी के प्रभाव को लक्षित करते हुए द्विवेदी जी कहते है कि "गाधीवाद के साहित्यकार प्रेमचन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, सियाराम शरण और जैनेन्द्र तथा छायावाद के कलाकार प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ये सब एक ही परिवार की प्रजाए है, इनमें शिल्पभेद है, मनोभेद नही।"[101] यही नहीं द्विवेदी जी को छायावाद की पृष्ठभूमि हिन्दी की अपनी ही भूमि लगी। किसी विदेशी या बगाली सस्करण की नही। आधुनिक काल की खडी बोली के प्रारम्भिक काल से छायावाद को जोडते हुए द्विवेदी जी ने लिखा "भारतेन्दु युग से लेकर छायावाद युग तक एक ही मनोजगत का उत्तरोत्तर विकास है क्योकि इनका सास्कृतिक धरातल एक है।"[102]

छायावाद तक आते–आते भारत की सामाजिक स्थिति ऊपर से कुछ बदल सी गयी थी। नयी चेतना की आधी से लगता था कि मध्य कालीन पृष्ठभूमि से इतर नये भारत का उदय हो रहा है। लेकिन अन्दर से अब भी वही स्थिति थी। फर्क इतना था कि पहले सामतवादी प्रवृत्ति थी तो अब साम्राज्यवादी मानसिकता। लेकिन परिवर्तन कोई खास नही। छायावादी काव्य भाषा को ब्रजभाषा से जोडने की कडी मे द्विवेदी जी का मतव्य था कि "ब्रजभाषा के समय यदि सामन्तवादी सामाजिक वातावरण था, तो छायावाद काल मे पूँजीवादी सामाजिक वातावरण। दोनो मे अन्तर केवल अतीत और वर्तमान साम्राज्यवाद का है। मूलतः दोनो की विषम सामाजिक व्यवस्था एक सी है।"[103] शातिप्रिय द्विवेदी जी ने आचार्य शुक्ल के उन पक्षो पर प्रकाश डाला है, जिसके चलते आचार्य शुक्ल को लेकर नये आलोचको ने काफी होहल्ला मचाया है। 'शुक्ल जी का कृतित्व' निबन्ध मे विस्तार से द्विवेदी जी ने शुक्ल जी के रहस्यवाद, लोकवाद, छायावाद, समाजवाद सम्बन्धी विचारो की परीक्षा की है। अतत वे इस निष्कर्ष पर पहुचे कि "उनकी आधुनिकता काव्य के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे है। उनका वैज्ञानिक विश्लेषण अंग्रेजी ढग का है। रीतिकाल की अपेक्षा नवीन और अति आधुनिक काल की अपेक्षा प्राचीन। यो कहे वे रीतिकाल के नव्यतम भाष्यकार है।"[104]

शुक्ल जी कविता मे वस्तुपक्ष और लोकपक्ष पर अधिक ध्यान देते थे जिसके चलते काव्य के भावपक्ष और व्यक्ति पक्ष की उपेक्षा सी हो जाती थी इसी दृष्टिकोण के कारण वे 'छायावाद' के साथ न्याय नही कर पाये। उनकी इसी तथाकथित कमजोरी को लक्ष्य करके शातिप्रिय द्विवेदी ने लिखा है "व्यक्तिगत पक्ष मे शुक्ल जी जैसे सूक्ष्म अनुभूति को छोड गये है वैसे ही मधुर अनुभूति को भी। जीवन और कला मे शील और शक्ति को तो वे देख सके, किन्तु माधुर्य को ओझल कर गये। हा, सौन्दर्य का प्रयोग उन्होने कर्म मे किया है, सज्ञा मे नही। सौन्दर्य कर्मवाचक होने के कारण वह शील और शक्ति मे अन्तर्भूत हो गया उसका निजी व्यक्तित्व (सुन्दर) नही रह गया।"[105]

मूलत उत्तर छायावाद काल के आलोचक शातिप्रिय द्विवेदी ने न सिर्फ छायावाद को उसके सम्पूर्ण कलेवर मे समझा बल्कि उसके सम्बन्धो को हिन्दी

साहित्य की मूल धारा से जोडा। इसी क्रम मे उनकी शैली बहुत कुछ स्वानुभूति के कारण प्रभावीव्यजक सी हो गयी है। स्वय द्विवेदी जी का मानना है कि प्रभाविक आलोचना द्वारा आलोचना मे अनुभूति का परिचय मिलता है। अनुभूति के लिए रसज्ञता नही रसार्द्रता भी चाहिए। सच तो यह है कि अपनी इसी भावना प्रधान आलोचकीय दृष्टि के कारण द्विवेदी जी की आलोचना मे वह तेजस्विता, तीक्ष्णता नही मिलती, जिनकी पहचान शुक्ल जी करा गये थे।

(ट) आचार्य शुक्ल की आलोचना परम्परा

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और अन्य

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आलोचना की जो दिशा, विकास क्रम की दृष्टि से वह आगे दो धाराओ मे विभाजित हो गई। पहली धारा के आलोचको ने आचार्य शुक्ल की मान्यताओ से अपनी सहमति रखते हुए उसे उसी रूप मे स्वीकार कर लिया और उसी परम्परा को विकसित करते रहे। दूसरी धारा के आलोचको ने अपनी आलोचना पद्धति को शुक्ल जी की तरह उसी दृढता, आत्मविश्वास, गभीर चितन से विकसित किया पर इसी क्रम मे उनका आचार्य शुक्ल से सैद्धान्तिक मतभेद भी स्पष्ट हो जाता है। मौलिक उद्भावनाओ, नवीन व्याख्याओ के कारण उनकी विचार दृष्टि शुक्ल जी के विपरीत हो चली। पहली धारा के अन्तर्गत आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, गुलाबराय, लक्ष्मी नारायण सुधाशु, जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, कृष्ण शकर शुक्ल, केसरी नारायण शुक्ल और सत्येन्द्र आदि आलोचक आते है तो दूसरी धारा नन्द दुलारे वाजपेयी, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र की त्रयी के साथ–साथ मार्क्सवादी विचारधारा के अन्तर्गत आने वाले तमाम आलोचको की है।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने रीतिकाल के उपर विचार–विमर्श किया है। इन्होने ऐसी कोई मौलिक उद्भावना नही की है जिससे रीतिकालीन साहित्य को नये रूप मे जाना पहचाना जा सके। साहित्य को 'रसवाद' के अन्तर्गत स्वीकार कर रस तथा अन्य काव्य सम्प्रदायो को पुराने लक्षण ग्रन्थो के आधार ही मूल्याकित किया। रसो के सम्बन्ध मे शुक्ल जी के जो विचार थे, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसे स्वीकार

करते हुए लिखा "शास्त्रो मे अलौकिक या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' शब्द केवल रसानुभूति की स्थिति और प्रक्रिया समझाने के लिए प्रयुक्त हुए है उसे प्रत्याक्षानुभूति से एकदम पृथक घोषित करने के लिए नही।"[106] तात्पर्य यह कि मिश्र जी ने भी रस को 'सुख–दुख' के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

'इतिहास' के विवेचन क्रम मे 'रीतिकाल' को श्रृगार काल' नाम देकर मिश्र जी ने इस काल की प्रवृत्तियो के स्वरूपो, उनके उद्गम स्रोतो की विस्तृत खोज की। इसी विश्लेषण क्रम मे कविताओ का मार्मिक विश्लेषण भी उन्होने किया है।

मिश्र जी ने 'श्रृगार काल' को मुख्यत तीन प्रवृत्तिया स्वीकार की है। (1) रीतियुक्त (2) रीतिसिद्ध (3) रीतिमुक्त। रीतियुक्त कविता मे कवि किसी नये पथ पर न चलकर बनी–बनायी पद्धति का ही अनुसरण करता है,उसकी शैली और वस्तु दोनो ही परम्पराबद्ध रही है। रस, अलकार, नायिका भेद आदि के लक्षणो के हेतु ही कवियो ने कविता की है जिससे इनका काव्य सौन्दर्य नही उभर पाता। रीतिसिद्ध कवियो की श्रेणी मे मिश्र जी ने उनकी कविता रखी है जिन्होने रीतिबद्ध कवियो की भाति परम्पराबद्ध होते हुए भी उनकी अपेक्षा कुछ मुक्त कविता करते है। इन कवियो ने लक्षण और लक्ष्य से अलग लक्ष्य निर्माण का प्रयत्न किया। रीतिसिद्ध इसलिए है कि इन्होने लक्षण न देकर, लक्ष्य निर्माण की प्रवृत्ति न रखते हुए भी ये अपने ध्यान मे लक्षणो को अवश्य रखते है। रीति मुक्त कवि इन दोनो कोटियो के कवि से अधिक स्वच्छन्द है, उन्होने न तो कोई लक्षण प्रस्तुत करने का प्रयास किया, न ही उन्हे ध्यान मे रखा। ये 'हृदय की पुकार' पर कविता लिखते थे। इसीलिए इनकी कविता मे सच्ची अनुभूति को महसूस किया जा सकता है। रीतिकाल की परम्परा को मिश्र जी अपने विवेचन मे प्राकृत, अपभ्रश तक ले जाते है। लेकिन वे इस बात को स्पष्ट नही कर पाते कि किस तरह से प्राकृत अपभ्रंश की श्रृगारी कविता, रीतिकाल की श्रृंगारी कविता से जुडती है।

मिश्र जी ने मुक्तको, सतसइयो आदि की परम्परा का अवलोकन कर आर्य सप्तशती, गाथा सप्तशती और अमरुक शतक आदि ग्रंथों का विशद विचार विमर्श

कर इस परम्परा को बिहारी से जोडा। साथ ही रीतिकाल की कविता पर पडे बाहरी प्रभाव के रूप मे फारसी काव्यधारा से भी इस काल को जोडा।

द्विवेदी युग मे तुलनात्मक समीक्षको ने बिहारी, देव, केशव पर काफी विस्तृत समीक्षाए प्रस्तुत की थी। मिश्र जी ने अपने को इन सबसे अलगाते हुए अपनी आलोचना दृष्टि मे गाभीर्यता के साथ–साथ कविताओ की व्याख्याओ तक को ही केन्द्र मे रखा। मिश्र जी की आलोचना मे कही भी प्रभावात्मकता, राग–द्वेष या निर्णयात्मकता पद्धति का अनुसरण नही है। बिहारी, भूषण, घनानन्द पर इन्होने विस्तृत समीक्षा लिखने के क्रम मे जीवन परिचय के साथ–साथ कवि की विशेषताओ को बडे ही मार्मिक तरीके से व्याख्यायित किया है और उस कमी को पूरा करने का प्रयास किया जिसके अभाव मे 'रीतिकालीन कविता' को समझना मुश्किल सा है।

बाबू गुलाबराय और लक्ष्मी नारायण सुधाशु ने साहित्य सिद्धान्तो को अपने विवेक से जाचा परखा। दोनो ही शुक्ल जी का अनुगमन करते से जान पडते है, लेकिन कही–कही उनसे मत–मतान्तर भी है। बाबू गुलाब राय मूलतः समन्वयवादी आलोचक रहे है। इनकी आलोचना मे फैलाव तो अधिक है, लेकिन विचारों की मौलिकता नही। इन्होने यहा वहा से, पूर्वी पश्चिमी विचारकों से लम्बे–लम्बे उद्धरण लेकर उनके समन्वय को महत्व दिया। जिसके चलते ये सतही आलोचक से जान पडते है। 'काव्य के रूप' और 'सिद्धान्त और अध्ययन' मे इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है।

लक्ष्मी नारायण सुधाशु ने 'रसवादी' होते हुए भी 'काव्य मे अभिव्यजना' के विविधि सौन्दर्यों पर विवेचन किया है। इनकी आलोचना पद्धति शुक्ल जी का अनुसरण करते हुए भी कुछ मौलिक उद्भावनाओ पर भी ध्यान केन्द्रित करती है पर इनकी आलोचना मे गहराई की व्याप्ति नही है। 'जीवन के तत्व और काव्य' मे इन्होने विस्तार से जीवन के विविध तत्वो का काव्य के सिद्धान्तो से तालमेल बैठाने का प्रयास किया।

जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का महत्व इस बात को लेकर है कि इन्होने कहानी के शिल्प पक्ष पर विशद विवेचना की है। हिन्दी मे ऐसा पहली बार हुआ है। 'कहानी'

विधा के शिल्प पर विचार क्रम मे शर्मा जी ने पूर्वी, पश्चिमी विचारको के आलोक मे अपने इस काम को पूरा किया। प्रसाद के नाटको का शास्त्रीय पद्धति से भी इन्होने अध्ययन किया है।

इसी परम्परा को आगे बढाने का स्तुत्य कार्य कृष्ण शकर शुक्ल ने 'केशव' को लेकर किया है। केशव के उपर कृष्ण शकर शुक्ल ने जो विचार किया है उसका सूत्र रूप शुक्ल जी मे मिलता है।

केसरी नारायण शुक्ल की आलोचना दृष्टि अपने समकालीन परम्परायुक्त आलोचको की अपेक्षा अधिक सामजिक रही है। 'आधुनिक काव्यधारा' मे केसरी जी ने काव्य के स्वरूप को निर्मित करने वाली अनेक चेतनाओ का विश्लेषण किया है।

सत्येन्द्र ने 'गुप्तजी कला, की प्रेमचन्द्र और उनकी कहानी कला, ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, हिन्दी एकाकी साहित्य की झाकी के साथ–साथ' समीक्षा के सिद्धान्त' आलोचकीय पुस्तके लिखी है। अपने आलोचकीय दृष्टि मे ये कुछ अधिक मौलिक नवीन से लगते है लेकिन परम्परा की दृष्टि से शुक्ल जी की ही परम्परा के आलोचक जान पडते है।

(ठ) शुक्लोत्तर आलोचना-त्रयी

नन्द दुलारे वाजपेयी

शुक्ल जी के छायावाद सम्बन्धी विचार के विरोध मे छायावादी कवि स्वय ही आलोचना क्षेत्र मे उतर पडे थे, लेकिन मूलत. वे कवि ही थे आलोचक नही। शातिप्रिय द्विवेदी ने अवश्य ही इस क्षेत्र मे कुछ अलग कार्य किया और 'छायावाद' को हिन्दी परम्परा से जोडा। लेकिन शुक्ल जी के साथ सैद्धान्तिक स्तर पर पहली बार टकराहट उनके यशस्वी शिष्य नन्द दुलारे वाजपेयी से होती है। शुक्लोत्तर समीक्षा के मूल्यांकन मे वाजपेयी जी का कहना है कि "शुक्ल जी की अपेक्षा नई समीक्षा मे साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणा शक्तियो, शैली, भेदो और कला स्वरूपो की परख अधिक व्यापक और मार्मिक है, इसमे सन्देह नही।

शुक्ल जी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नये समीक्षको की सौन्दर्य अनुभूति और कला–प्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है।''[107]

वाजपेयी जी को शुक्ल जी से शिकायत थी कि ''प्रवृत्ति विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य विवेचन भी प्रबन्ध कथानक और जीवन–सौन्दर्य के व्यक्त रूपो का आग्रह करने के कारण सर्वागीण और तटस्थ नही कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सास्कृतिक जटिलताओ का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्यधारा का आकलन हम शुक्ल जी मे नही पाते।''[108] अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वाजपेयी जी ने शुक्ल जी के 'छायावाद' सम्बन्धी दृष्टिकोण से असहमति व्यक्त की। लेकिन किसी से असहमत होना एक बात है और अपनी असहमति के लिए समीक्षा मानदण्ड को निर्धारित करना दूसरी बात। वाजपेयी जी ने 'छायावाद' के सम्बन्ध मे अपने लिए जो मानदण्ड निर्धारित किये उसके लिए उन्होने साहित्येतर मानदण्डो का इस्तेमाल नही किया स्वय छायावादी कविता से ही अपने लिए मानदण्ड निर्धारित किये। वाजपेयी जी के अनुसार ''प्रसाद के 'ऑसू' की मार्मिक पक्तिया, निराला की 'तुम और मै', 'जूही की कली' और अन्य अनेक रचनाये तथा पल्लव के बहुत से प्रगीत विशिष्टता का प्रतिमान बनकर मेरे समक्ष आए थे। मेरा कार्य केवल विवेचन और व्याख्या करना था।''[109]

अपने बनाये इसी प्रतिमानो को वाजपेयी ने थोडा हेर–फेर के साथ कही–कही दुहरे मानदण्डो के इस्तेमाल से 'छायावाद' से लेकर 'नयी कविता' तक अपनी विचार दृष्टि से उसके सामाजिक, सास्कृतिक तथा आधुनिक भाव बोध को जाचा परखा। वाजपेयी जी ने काव्य मे जीवन चेतना, नैतिकता आदि से ऊँचा स्थान 'काव्य सौष्ठव' को दिया है।

वाजपेयी जी ने छायावाद को स्वतन्त्रता आन्दोलन और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति माना। ''नई छायावादी काव्यधारा का भी एक अध्यात्मिक पक्ष है, परन्तु उसकी प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सास्कृतिक है। उसे हम बीसवी शताब्दी की वैज्ञानिक और भौतिक प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह

सकते है।''[110] भारतीय सन्दर्भ मे छायावाद का विवेचन करने के क्रम मे वाजपेयी जी भी उसमे 'विदेशी प्रभाव' को लक्षित करते है ''किसी हद तक यह नया 'कला आन्दोलन' जो हिन्दी साहित्य में छायावाद के नाम से प्रसिद्ध है, यूरोप के सुप्रसिद्ध रोमाटिक या स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन से समानता रखता है।''[111] शुक्ल जी भी छायावाद को पाश्चात्य शैली का अनुकरण मानते है और लगभग यही समानता वाजपेयी जी स्वीकार करते है, तो टकराहट कहा होती है ? टकराहट की पृष्ठभूमि है छायावाद की भावभूमि। शुक्लजी ने छायावाद को शैलीमात्र माना है, लेकिन वाजपेयी जी इससे सहमत नही है। वाजपेयी जी छायावाद को रीतिकालीन काव्य के विरोध मे स्वीकार करते है। ''छायावाद का आरम्भ मध्यकालीन, रीतिकाव्य के आत्यतिक विरोध मे हुआ था। न केवल रचना शैली मे वरन् नवीन जीवन दृष्टि और उसकी भावना कल्पना मे छायावाद के कवियो ने वैयक्तिक अनुभूति को मुख्य साधन माना था जबकि गुप्त जी के पदो मे पौराणिक भावना और सस्कार तथा रीतिबद्ध वर्णन शैली का प्रभाव विद्यमान है।''[112]

वस्तुत शुक्ल जी ने जिस 'छायावाद' को शैली मात्र मानकर उस पर पाश्चात्य अनुकरण का ठप्पा लगा दिया था को वाजपेयी जी ने हिन्दी की जातीय परम्परा का विकसित रूप मानकर उसकी पृष्ठभूमि को हिन्दी भाषी माना।

छायावाद के प्रमुख स्तभ 'जयशकर प्रसाद' पर वाजपेयी जी ने अनेक निबन्ध लिखे। जिसमे प्रसाद साहित्य की पूरी समीक्षा ही हो गयी। 'कामायनी' को लेकर भी शुक्ल जी से वाजपेयी जी असहमत होते है। शुक्ल जी ने कामायनी को एकागी काव्य मानते हुए लिखा है कि ''जिस सम्बन्ध का पक्ष कवि ने अन्त मे सामने रखा है, उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नही होने पाया है। पहले कवि ने कर्म को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप मे दिखाया, फिर अन्त मे कर्म और ज्ञान के बिन्दुओ को अलग–अलग रखा।''[113]

नन्द दुलारे वाजपेयी का मानना है कि प्रसाद ने कामायनी मे ''मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावो की बडी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर सग्रह किया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक

विकास मे सामजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नही, यदि हम और गहरे पैठे तो मानव प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमे मिलेगी। आख्यात्मिकता और व्यावहारिक तथ्यो के बीच सतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा इस काव्य मे की गई है।''[114]

नन्द दुलारे वाजपेयी ने न सिर्फ 'छायावाद' को अपना आलोचना केन्द्र बनाया। बल्कि प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद पर भी अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। साथ ही उपन्यास, कहानी, नाटक के साथ ही मध्यकालीन कवि सूरदास पर भी विवेचन किया। वाजपेयी जी की आलोचना कितनी गभीर थी इस बात का पता चलता है रत्नाकर के विवेचन मे। खडी बोली की परम्परा से अलग ब्रजभाषी कवि रत्नाकर को आधुनिक काल के युग से जोडते हुए भी वाजपेयी जी की टिप्पणी ''विगत युग के सस्कारो की स्थापना नव्यतर युग मे करना निर्सगत एक कृत्रिम प्रयास है। वह काव्य सुशोभन और गौरवास्पद हो सकता है, किन्तु वह युग का अनिवार्य काव्य नही हो सकता।''[115]

आचार्य शुक्ल के साथ–साथ वाजपेयी जी की टकराहट प्रेमचन्द्र से उनके 'आत्मकथा' को लेकर हुई। वाजपेयी जी ने अपने पत्र 'भारत' मे प्रेमचन्द्र के उपन्यासो के बारे मे टिप्पणी की कि ''प्रेमचन्द्र जी के उपन्यास उनकी प्रोपेगेडा वृत्ति के कारण काफी बदनाम है और हिन्दी के बडे से बडे समीक्षक ने उसकी शिकायत की है। प्रेमचन्द्र जी के सभी समीक्षक जानते है कि उनका सबसे बडा दोष जो उनकी साहित्य कला को कलुषित करने में समर्थ हुआ है वही प्रोपेगेंडा है।''[116]

प्रेमचन्द्र ने वाजपेयी जी को चुनौती देने के स्वर मे कहा ''अगर प्रोपैगैण्डा न हो, तो ससार मे साहित्य की जरूरत न रहे। जो प्रोपैगैण्डा नही कर सकता, वह विचार शून्य है और उसे कलम हाथ मे लेने का कोई अधिकार नहीं। मै उस प्रोपैगैण्डा को गर्व से स्वीकार करता हूँ।''[117] वस्तुत. यह टकराहट एक युग के दो विविध क्षेत्रो के साहित्य–मानिषियो की टकराहट है, जिससे समसामयिक साहित्य ही

नही समृद्ध होता है, बल्कि आलोचक, लेखक दोनो को ही अपनी सीमा का भी आभास होता है।

वाजपेयी जी की आलोचना मे विरोधाभासी तत्वो का समावेश रहा है। जैसे–प्रगतिशील प्रवृत्तियो को वाजपेयी जी ने प्रयोगवादी प्रवृत्तियो की अपेक्षा अधिक महत्व दिया है। लेकिन कविता को उदाहरण स्वरूप जब प्रस्तुत करते है तो प्रयोगवादी और नयी कविताओ को। यह विरोधाभास उनकी आलोचना के परवर्तीकाल मे अधिक मिलती है। धर्मयुग के तीन अको मे 'नयी कविता एक पुनर्रीक्षण' नाम से वाजपेयी जी ने एक लेखमाला लिखी है, जिसमे उनके विरोधाभासी विचारो को अधिक स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। निर्मला जैन ने वाजपेयी जी की इस स्थिति को ध्यान मे रखकर लिखा है कि "इसे नये आलोचको की पात मे बैठने का लोभ समझा जाय या सतत आत्मनिरीक्षक के परिणाम स्वरूप अपने मत मे परिवर्तन और सशोधन की उदारता ?[118] इसी क्रम मे आगे निर्मला जैन ने वाजपेयी जी के विचारो और समीक्षा कर्म मे अन्तर को स्पष्ट करते हुए लिखा "काव्य मे वे 'वस्तु' तत्व को महत्व देते थे। समाजवादी विचारधारा को उन्होने सर्टिफिकेट दिया था आज हिन्दी मे श्रेष्ठ साहित्य के सृजन के कौन से क्षेत्र हैं ? निश्चय ही समाजवादी विचारो के क्षेत्र' (आधुनिक साहित्य) किन्तु उन्होने यशपाल, राहुल नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि प्रगतिवादी लेखको की एक भी समीक्षा न की।"[119]

वाजपेयी जी के समीक्षा कर्म मे भले ही विरोधाभास लक्षित होता हो, लेकिन इसका तात्पर्य यह नही है कि उनके पास कोई साहित्यक मानदण्ड नहीं था। वाजपेयी जी का स्पष्ट मानना है कि "आलोचना, रचनात्मक साहित्य की प्रिय सखी शुभैषिणी, सेविका और सहृदय स्वामिनी कही जा सकती है।"[120]

यही नही अपने आलोचना सम्बन्धी दृष्टिकोण को उन्होने सात सूत्रो मे समझाने का प्रयास किया है जो निम्न है

1 रचना मे कवि की अन्तर्वृत्तियो (मानसिक उत्कर्ष अपकर्ष) का अध्ययन।

2 रचना मे कवि की मौलिकता शक्तिमत्ता और सृजन की लघुता–विशालता (कलात्मक सौष्ठव) का अध्ययन।

3 रीतियो, शैलियो और रचना के बाह्ययागो का अध्ययन।

4 समय और समाज तथा उनकी प्रेरणाओ का अध्ययन।

5 कवि की व्यक्तिगत जीवनी और रचना पर उसके प्रभाव का अध्ययन (मानस विश्लेषण)

6 कवि के दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारो आदि का अध्ययन

7 काव्य के जीवन सम्बन्धी सामजस्य और सन्देश का अध्ययन।[121]

वस्तुत. वाजपेयी जी के उपर्युक्त मानदण्डो के निर्धारण के कारक चाहे जो रहे हो, लेकिन इससे इनकी समीक्षा पद्धति को लेकर भ्रम ही अधिक फैला है। बावजूद इसके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद नन्द दुलारे वाजपेयी जी ही दूसरे महत्वपूर्ण आलोचक है, जिन्होने हिन्दी आलोचना को नयी जमीन दी। उसे आधुनिकता का सस्पर्श देने के साथ–साथ जीवन और समाज के सदर्भ से साहित्य के मूल्याकन करने का विशिष्ट व्याकरण दिया। यह अलग बात है कि 'तुलसी' की कविता को अपना आलोचना मानदण्ड स्वीकार करने के कारण शुक्ल जी 'छायावाद' के साथ न्याय नही कर पाये, उसी तरह 'छायावाद' के कविताओ को अपना आलोचना मानदण्ड स्वीकार करने के कारण परवर्ती काव्यधाराओ प्रगतिवाद प्रयोगवाद, के साथ नन्द दुलारे वाजपेयी न्याय नही कर पाये।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

नन्द दुलारे वाजपेयी की टकराहट शुक्ल जी के 'छायावाद' सम्बन्धी विवेचन से होती है तो हजारी प्रसाद द्विवेदी की टकराहट शुक्ल जी के 'भक्तिकाल' सम्बन्धी विवेचन से। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भक्तिकाल के आविर्भाव को 'पराजित मानसिकता' या 'इस्लाम के प्रभाव' के रूप मे न देखकर उसे भारतीय चिन्तन की

परम्परा से अनुस्यूत माना है और जोर देकर कहा है कि "अगर इस्लाम नही आया होता तो भी इस साहित्य का रूप बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"[122]

द्विवेदी जी ने जहा भक्ति साहित्य को सास्कृतिक घटनाओ से जोडकर एक लम्बी परम्परा का स्वाभाविक विकास माना, वही हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल को 'आदिकाल' नाम देकर इस काल के नामकरण की समस्या को सुलझा सा दिया। रामचन्द्र शुक्ल ने अपने विवेचन क्रम मे भक्तिकाल की ज्ञानमार्गी शाखा को कोई विशेष महत्व नही दिया लेकिन द्विवेदी जी ने अपने 'आलोचना कर्म' को इसी शाखा से जोड दिया।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के विवेचन क्रम मे नाथ योगियो, सिद्धो की परम्परा के साथ–साथ कबीर पर पडे उनके प्रभाव, कबीर की सामाजिक स्थिति, कबीर का रहस्यवाद, निर्गुण राम की भक्ति कैसे सभव है? कबीर की वाणी, कविता आदि का तथ्यात्मक तरीके से प्रकाश डालने का अद्भूत प्रयास किया है। इस विवेचन क्रम मे बहुत सी बाते शुक्ल जी की विचार पद्धति के विरोध मे पडती है। जिसको लेकर हिन्दी साहित्य मे दो परम्पराओ का चलन माना जाने लगा। पहली परम्परा जिसे शास्त्रीय परम्परा का नाम दिया गया उसका वाहक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को माना गया, तो दूसरी परम्परा जिसे जनवादी परम्परा कहा गया। और जिसका वाहक हजारी प्रसाद द्विवेदी को माना गया। 'दूसरी परम्परा की खोज' मे नामवर सिह ने इस बात को पुष्ट करने का प्रयास किया, लेकिन ऐसे सरलीकृत विभाजन का क्या लाभ? माना कि शुक्ल जी को 'तुलसी' प्रिय है तो हजारी प्रसाद द्विवेदी को 'कबीर'। मध्यकालीन भक्त 'कबीर' की वाणी मे जो तेजस्विता है,उतनी हम तुलसी मे नही पाते। लेकिन तुलसी के समाज सम्बन्धी जो विचार है, उसका नाममात्र का अश भी कबीर मे नही मिलता। वस्तुत दोनो की साधना पद्धति अलग–अलग होते हुएभी इसी ससार के सन्दर्भ को लेकर है तो फिर इन परम्पराओ की खोज का मतलब? साथ ही एक और महत्वपूर्ण बात है कि निर्गुण काव्यधारा के अलावा इतिहास के रीतिकाल या अन्य कवियो के बारे मे जो टिप्पणी शुक्ल जी की है लगभग उसी को हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किचित हेर–फेरे के साथ स्वीकार कर लिया है, एवम् आचार्य शुक्ल की महत्ता को स्वीकार करते हुए द्विवेदी जी लिखते

है "भारतीय काव्यालोचन शास्त्र का इतना गभीर और स्वतन्त्र विचारक हिन्दी मे तो दूसरा हुआ ही नही, अन्यान्य भारतीय भाषाओ मे भी हुआ है या नही, ठीक नही कह सकते। शायद नही हुआ है।"[123]

आचार्य शुक्ल जहा पाश्चात्य आलोचना से प्रभावित थे वहीं द्विवेजी जी शुद्ध भारतीय चितन परम्परा जो सस्कृत से निकली है से प्रभावित। कबीर के विवेचन में द्विवेदी जी ने धर्म निरपेक्ष मानवीय चेतना से पूरे युग के तत्वबोध को उभारा है। कबीरदास के उपर पडे प्रभावो को स्पष्ट करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि "कबीर एक साथ ही तीन बडी–बडी धाराओ को आत्मसात् कर सके थे, लेकिन इससे उनके रामानन्द के शिष्य होने मे कोई बाधा नही पडी। ये तीन धाराए इस प्रकार है– (1) उत्तर पूर्व के नाथ पथ और सहजयान का मिश्रित रूप (2) पश्चिम का सूफी मतवाद और (3) दक्षिण का वेदान्त, भक्ति वैष्णव धर्म। कबीर के दोहे, पद, यहा तक कि उलट बॉसियॉ भी नाथपथ और सहजयान के साधकों के ढग पर है। कही–कही तो हू–ब–हू वही बात रख दी गई है। दूसरी धारा का क्षीण प्रभाव उनकी प्रेममूलक रूपक रचनाओ पर है, पर अतिम धारा ही वास्तव में कबीर को सदा परिचालित करती रही।"[124]

द्विवेदी जी से पूर्व कबीर को अक्खड, ब्राह्मण विरोधी, हिन्दू विरोधी आदि रूप मे जाना जाता रहा लेकिन द्विवेदी जी ने पूरे मनोयोग से 'कबीर' के ऊपर छाये कुहासे को मिटाकर न सिर्फ 'हिन्दी आलोचना' को ही बल्कि पूरे सन्तकाव्य को नयी दिशा–दृष्टि दी। कबीर की महत्ता प्रतिपादित करते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है "कबीर की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र मे भक्ति का बीज पडने से अकुरित हुई थी।"[125] कबीरदास से सूरदास की तुलना करते हुए द्विवेदी जी का मानना है कि "सुरदास सुधारक नही थे, ज्ञानमार्गी भी नही थे, किसी को कुछ सिखाने का भान उन्होने कभी किया ही नही। वे कही भी सम्प्रदाय, मतवाद या व्यक्ति–विशेष के प्रति कटु नही हुए। यह भी उनके सरल हृदय का ही निदर्शक है। लेकिन वे कबीर दास की तरह ऐसे समाज से नही आए थे, जो पद–पद पर लाछित और अपमानित होता था और जहा का गृहस्थ जीवन वैराग्य जीवन की अपेक्षा ज्यादा कठोर और तपोमय था।"[126]

रीतिकाल को द्विवेदी जी ने 'कामसूत्र' और 'गाथा सप्तशती' की परम्परा से जोडकर देखा। तात्पर्य यह कि साहित्यिक परिवर्तनो के मूल मे राजनीतिक उथल–पुथल को महत्व न देकर सास्कृतिक नैरन्तर्य की प्रतिष्ठा करने के पक्षपाती रहे है हजारी प्रसाद द्विवेदी। अपने इसी दृष्टिकोण से प्रेमचन्द्र का मूल्याकन करते हुए उन्हे आधुनिक हिन्दी साहित्य मे प्रथम कोटि का लेखक माना। इससे पहले के आलोचक 'प्रेमचन्द्र' के बारे मे ऐसे मत नही बना सके थे। द्विवेदी जी ने 'काव्यशास्त्र' को भी अपने 'इतिहास–प्रेम' दृष्टि से देखा। 'साहित्य का मर्म' मे उन्होने विस्तार से 'रस सिद्धान्त' की व्याख्या की है। साथ ही 'सौन्दर्य शास्त्र' को लेकर भी द्विवेदी जी ने काफी कुछ लिखा है। वे सौन्दर्य की अपेक्षा 'लालित्य' को अधिक महत्व देते है। वस्तुत उन्होने हिन्दी आलोचना' को इतिहास–बोध से सम्पृक्त किया, साथ ही परम्पराबद्ध होकर 'कवि' के विवेचन पर जोर दिया। सस्कृत साहित्य के साथ ही द्विवेदी जी ने आदिकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल के साथ–साथ छायावाद और प्रेमचन्द्र पर अध्ययन प्रस्तुत कर न सिर्फ 'हिन्दी आलोचना' को एक नयी भाव–भूमि दी, बल्कि रुढिवादिता से मुक्ति दिलाने का स्तुत प्रयास किया।

रसवादी समीक्षक डॉ0 नगेन्द्र

'छायावाद' को लेकर अपनी आलोचकीय यात्रा शुरू करने वाले डॉ० नगेन्द्र मूलत काव्यशास्त्रीय आलोचक है। 1937 के हस मे 'छायावाद' पर पहले आलोचनात्मक लेख मे ही नगेन्द्र ने अपनी आलोचकीय प्रतिभा का दर्शन दिखा दिया था। बाद मे इस निबन्ध के साथ अन्य निबन्धो को जोडकर 'सुमित्रा नन्द पन्त' पर एक व्यवस्थति आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की महत्ता इसी से है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में लिखा है कि "काव्य की 'छायावाद' कही जाने वाली शाखा चले काफी दिन हुए। पर ऐसी कोई समीक्षा पुस्तक देखने मे न आयी जिसमे उक्त शाखा की रचना प्रक्रिया (टेकनीक) प्रसार की भिन्न–भिन्न भूमिया, सोच–समझकर निर्दिष्ट की गयी हों। केवल प्रो० नगेन्द्र की 'सुमित्राननदन पंत' पुस्तक ही ठिकाने की मिली।"[127]

नगेन्द्र अपने व्यावहारिक आलोचना मे कवि के परिवेश को बहुत अधिक महत्व देते है, पर मूल रूप से दृष्टि उनकी सौन्दर्य पर ही रहती है। चाहे वह कृति 'सुमित्रानन्दन पत' की हो चाहे साकेत एक अध्ययन, रीतिकाव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता या स्फुट छोटे निबन्ध 'कुरूक्षेत्र' या 'तुलसीदास और नारी' आदि सबमे कवि के जीवन सबधी विवेचन अवश्य मिलता है। एक तरफ तो नगेन्द्र हिन्दी साहित्य पर ध्यान केन्द्रित करते रहे तो दूसरी तरफ वे पाश्चात्य आलोचना से भी जुडते चले गये। 1939 मे 'वीणा' मे नगेन्द्र ने रिचर्ड्स के 'प्रिसिपल्ज आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म' से प्रेरित होकर 'साहित्य मे कल्पना का उपयोग' विषय पर निबन्ध लिखा। नगेन्द्र का साहित्यिक सस्कार चूकि छायावाद युग मे हुआ था तो स्वाभाविक था कि उनमे 'व्यक्तिवादिता' का तत्व मिलता। ऐसा ही हुआ और इसकी परिणिति यह हुई कि वे फ्रायड' के 'मनोविश्लेषण' के करीब पहुच गये। 'छायावाद की परिभाषा' मे सबसे पहले इसका प्रभाव पडा। बाद में उनकी व्यावहारिक समीक्षा मे एक रूढि के रूप मे यह जुड गया। इसकी पृष्ठभूमि तो 'रीतिकाल की भूमिका' और 'देव और उनकी कविता' मे ही बन गयी थी। नगेन्द्र ने स्वीकार किया है कि "रीतिकाव्य के अध्ययन के समय मै व्यावहारिक आलोचना से सैद्धान्तिक आलोचना की ओर आकृष्ट हो चला था।"[128]

नगेन्द्र आलोच्य विषय को बहुत ही स्पष्ट तरीके से गहनात्मक रूचि से व्यवस्थित करते है। उनका मानना है कि "प्राय प्रतिष्ठित या ऐसा काव्य ही जिसके स्थायी मूल्य स्पष्ट लक्षित हो मेरी आलोचना का विषय रहा है किसी कृति को या कृतिकार को स्थापित करने की स्पृहा मन मे नही आयी।"[129] इसी मनोभूमि के कारण नगेन्द्र की आलोचना शिल्प पक्ष पर अधिक टिकती है, भाव पक्ष पर अपेक्षाकृत कम। इनकी आलोचना मे 'खण्डन–मण्डन' की अपेक्षा व्याख्या, विश्लेषण और अनुशसात्मक प्रवृत्ति के आधिक्य का कारण यही मनोभूमि है। 'सैद्धान्तिक आलोचना' के क्षेत्र मे 'रस–सिद्धान्त' उनकी महत्वपूर्ण देन है। नगेन्द्र के अनुसार 'आनन्द' की प्राप्ति ही काव्य का साध्य है। वे काव्य की दो स्थितियो 'आनन्द की सिद्धावस्था और साधनावस्था' के लिए अलग–अलग मानदण्डो की वकालत करते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य मे आनन्द के साथ–साथ, सामाजिक उपयोगिता

को भी महत्व देते थे। काव्य मे 'आनन्द' की सीमा रेखा बताते हुए शुक्ल जी ने 'रसमीमासा' मे लिखा है, "क्या मृत पुत्र के लिए विलाप करती हुई शैव्या से राजा हरिश्चन्द्र का कफन मागना देख सुन कर ऑसू नही आ जाते, दॉत निकल पडते है ? क्या कोई दु खान्त कथा पढकर बहुत देर तक उसकी खिन्नता नही बनी रहती? चित्त का यह द्रुत होना क्या आनन्दगत है? इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत कुछ कम कर दिया है उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।"[130]

डॉ० नगेन्द्र ने इसका उत्तर देते हुए लिखा "माना कि 'सत्य हरिश्चन्द्र' का प्रेक्षण सहृदय दात निकालने के लिए नही करता, पर क्या ऑसू बहाने के लिए यह समय और धन का व्यय कर रहा है?"[131] वस्तुत शुक्ल जी काव्य मे मूल्यों को अधिक महत्व देते थे इसीलिए वे साहित्य मे 'आनन्दवाद' को बहुत महत्व नही देते। नगेन्द्र के लिए मूल्यो का कोई महत्व ही नही है, बल्कि वे काव्यानन्द मे ही मूल्यो को पर्यवसित मान लेते है। डॉ० नगेन्द्र ने साहित्य मे 'आनन्दवाद' की स्थापना पर बल दिया जिसके कारण वे साहित्य के सामाजिक सन्दर्भों को अनदेखा सा कर गये।

डॉ० नगेन्द्र ने 'छायावादी' कविता को, द्विवेदी युग की प्रति क्रिया मानते हुए इसे, "स्थूल के प्रतिसूक्ष्म का विद्रोह माना" है।[132] हिन्दी काव्यधारा के अगले चरण प्रगतिवाद को उन्होने छायावादी सूक्ष्मता के प्रति स्थूलता का विद्रोह माना है। "स्थूल ने एक बार फिर सूक्ष्म के विरूद्ध विद्रोह किया। यह प्रतिक्रिया दो रूपो मे व्यक्त हुई। एक तो छायावाद की पलायन वृत्ति के विरूद्ध, दूसरी उसकी अमूर्त उपासना के विरूद्ध। इन्ही दोनो प्रवृत्तियो का सम्मिलित रूप आज प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है।"[133]

वस्तुत. नगेन्द्र का महत्व हिन्दी आलोचना मे पूर्वी–पश्चिमी काव्यशास्त्रो के अध्ययन तथा उनके आपसी सम्बन्धित सूत्रो के एकीकरण को लेकर है। स्वय उनकी मान्यता है कि "भारत तथा पश्चिम के दर्शनों की तरह यहां के काव्यशास्त्र भी एक दूसरे के पूरक है और पुनराख्यान आदि के द्वारा उनके आधार पर काव्य शास्त्र का निर्माण सहज सम्भव है।" नगेन्द्र की इस एकीकरण सूत्रो, को

'ध्वन्यालोक', 'काव्यालकार सूत्रवृत्ति' 'वक्रोक्ति जीवित' आदि की भूमिकाओ के साथ–साथ 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' 'काव्य मे उदात्त तत्व' मे देखा जा सकता है। नगेन्द्र की आलोचना दृष्टि की महत्ता इस बात मे है उन्होने अपना उत्तरोत्तर विकास किया। कोई रुढि नही बनायी। डॉ0 निर्मला जैन के शब्दो मे ''उनका आलोचक व्यक्तित्व क्रमश साधनावस्था से सिद्धावस्था की ओर ही बढता रहा है।''[134]

(ड) डॉ0 देवराज

शुक्लोत्तर आलोचना त्रयी कही न कही शुक्ल जी के सैद्धान्तिक मतभेदो से अपने लिए आलोचना का विषय चुनती रही। नन्ददुलारे वाजपेयी छायावाद को लेकर हजारी प्रसाद द्विवेदी मध्यकालीन सत साहित्य को लेकर तो नगेन्द्र 'रस' को लेकर शुक्ल जी से टकराते है और इस टकराहट के फलस्वरूप हिन्दी आलोचना को एक नयी भावभूमि पर प्रतिष्ठित करते है। पर इन सबसे अलग डॉ० देवराज ने शुक्ल जी को मान्यताओ को किचित विस्तार देकर उसे समसामयिक सन्दर्भ से जोडने का प्रयास किया।

डॉ० देवराज ने 'छायावाद का पतन' पुस्तक लिखकर हिन्दी पाठको को चौका सा दिया। पुस्तक के नाम मे भले ही चमत्कार हो, लेकिन विवचेन क्रम मे उन्होने ऐसी कोई नई बात नही कही है, जिससे चौकने की जरूरत हो। 'छायावाद' की आलोचना करने के क्रम में उन्होने सिर्फ उसके कमजोर पक्षो को ही केन्द्रित किया परिणाम स्वरूप उनकी आलोचना एकागी और एक पक्षीय सी हो गयी। इस बात का एहसास स्वय डॉ० देवराज को हो गया था इसके लिए उन्होंने अलग से एक निबन्ध लिखकर छायावाद का पूर्ण विश्लेषण करने का प्रयास किया।' छायावादी कवियो का कृतित्व निबन्ध को 'छायावाद का पतन' के साथ मिलाकर पढने का आग्रह करते हुए डा0 देवराज ने लिखा ''जहा उक्त पुस्तक (छायावाद का पतन) लिखते समय हमारा ध्यान प्रधानतया छायावाद की उन अशक्तियों पर था जो उसके निराकरण या लोप का कारण हुई, वहा प्रस्तुत निबन्ध (छायावादी कवियो का

कृतित्व) मे हम उनकी उपलब्धियो का विश्लेषण करने की चेष्टा करेगे जो छायावादी काव्य को हमारे साहित्य का उल्लेखनीय अध्याय बनाती है।''[135]

'छायावाद का पतन' मे डॉ० देवराज ने स्वय स्वीकार किया है कि यह पुस्तक शुक्ल जी की छायावाद सबधी समीक्षाओ का भाष्य है। डा0 देवराज ने भले ही शुक्ल जी के छायावाद सम्बन्धी मान्यताओ का भाष्य लिखा हो लेकिन इसकी शब्दावली स्वय उनकी गढी हुई है। छायावाद के पतन का मूल कारण बताते हुए देवराज ने प्रगतिशील साहित्य की कमियो को भी बताया है ''छायावाद के पतन का कारण उसका असामाजिक अथवा गलत विषय से उलझना नही था . हमारा विश्वास है कि अधिकाश हिन्दी पाठक जो छायावाद से असन्तोष महसूस करते है, मार्क्सवाद के अनुयायी नही है और न विश्व की आर्थिक राजनैतिक व्यवस्था बदलने को ही विशेष उत्सुक रहे है। प्रगतिवादी आलोचक ऐसे पाठकों की अनुभूति का सफल विश्लेषण नही कर पाये है। इसलिए उनसे वे सब पाठक और आलोचक जो वादग्रस्त नही है, असन्तुष्ट है।''[136] कहना न होगा असन्तुष्ट पाठको मे स्वय डा0 देवराज भी है। छायावाद के 'पतन' के क्रम मे डॉ० देवराज ने उन्ही बातो को बताया जो छायावाद की शक्तिया थी। जैसे शब्दमोह, चित्रमोह और कल्पनामोह।

डॉ० देवराज मानते है कि प्रत्येक युग का साहित्य, अपने भाव भूमि मे नया होता है, इसलिए आलोचना का कोई शाश्वत मानदण्ड नही हो सकता। ''जब किसी नवीन कला कृति की अनुभव–गोचर महत्ता प्रचलित सिद्धान्तो द्वारा व्याख्यात नही होती, तब उसकी व्याख्या के लिए नए सिद्धान्तो की आवश्यकता पडती है।''[137] इसी के चलते परम्परागत 'रस ध्वनि' की कसौटी प्रेमचन्द्र या उनके बाद के साहित्य के लिए बेमानी हो गये। डॉ० देवराज का मानना है कि ''आज रस और ध्वनि की कसौटियो पर तुर्गनेव के 'पिता–पुत्र' गाल्सवर्दी के 'फोर्साइट सागा' अथवा प्रेमचन्द्र के 'गोदान' को ठीक से नही जाचा जा सकता।''[138]

डॉ० देवराज की आलोचना की एक खास विशेषता यह रही है कि उन्होने सूर को तुलसी से श्रेष्ठ कवि माना साथ ही तुलसी के मानस को उनकी अन्य कृतियो (गीतावली, कवितावली) से निम्न कोटि का समझा। बिहारी को छायावाद के

कवियो के समकक्ष रखकर छायावादी कवियो को हीन समझा। वस्तुत यह प्रवृत्ति द्विवेदी युगीन आलोचना की ही प्रवृत्ति का विस्तार है।

'प० रामचन्द्र शुक्ल एक मूल्याकन' डा0 देवराज का एक प्रसिद्ध निबन्ध है जिसमे उन्होने शुक्ल जी की विशेषताओ को उभारा है तो उनकी सीमा रेखा को भी रेखाकित किया है। डॉ० देवराज का कहना है कि "शुक्ल जी की सबसे बडी शक्ति है रस ग्राहिता, इतनी ठोस रसज्ञता वाले पाठक और आलोचक बहुत कम पैदा होते है।"[139] शुक्ल जी की सीमा बताते हुए उनका कहना है कि "शुक्ल जी की रस ग्राहिणी क्षमता निसदिग्ध है, किन्तु मीमासक की दृष्टि से वे अरस्तू जैसे क्रान्तिदर्शी प्रतिभा मनीषियो से ही नही, रिचड्र्स जैसे साधारण किन्तु वैज्ञानिक विचारको से भी पीछे थे।"[140]

डॉ० देवराज का आलोचकीय महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होने बिना किसी वाद मे अपने को जकडे एक स्वतन्त्र विचारक की दृष्टि से रूचि के अनुसार अपनी आलोचना लिखी। 'रूचि वैचित्र्य' की दृष्टि से उन्होने एक तरफ 'अलकार और ध्वनि' 'उर्दू गजल मे चमत्कार' से लेकर 'साहित्य का प्रयोजन', 'युग और साहित्य' 'साहित्य मे प्रगति', 'हिन्दी आलोचना का धरातल' विषय पर लिखा तो दूसरी तरफ 'आदि काव्य' से लेकर प्रयोगशील काव्य के साथ–साथ समकालीन कथा साहित्य को भी अपनी आलोचना का विषय बनाया। डॉ० देवराज की मान्यतायें अवश्य विवादास्पद रही है, लेकिन अपने तर्कशक्ति की बदौलत–ध्यातव्य है कि डा0 देव राज दर्शन के विद्यार्थी रहे है–उन्होने अपनी बात को पुख्ता प्रमाण के साथ प्रस्तुत किया है। 'आदि काव्य' पर लिखा निबन्ध ऐसा निबन्ध है जो हिन्दी मे हजारी प्रसाद द्विवेदी के अलावा कोई नही लिख पाया है। डॉ० देवराज अपनी कमियो को पहचानने और उससे मुक्त होने के सतत आकाक्षी रहे है। वे किसी भी विषय पर 'अन्तिम सत्य' की बात नही करते यह उनकी आलोचकीय प्रतिभा की महानता है। स्वय डा0 देवराज का कहना है कि "स्वभावत. अवस्था वृद्धि और रस सवेदना के विकास के साथ निर्णय बुद्धि अधिक सन्तुलन होना सिखाती है।"[141]

प्रगतिशील समीक्षको की परम्परा, जिसकी शुरूआत 1936 के आस–पास से होती है, हिन्दी आलोचना मे विकसित होने लगती है, इसी आलोचना पद्धति के दौर मे विजय देव नारायण साही' का आलोचना कर्म शुरू होता है। साही के समकालीन आलोचको जिसमे प्रगतिशील विचारको के साथ–साथ नई समीक्षा के आलोचक और अज्ञेय समर्थित आलोचक है का विवेचन अगले अध्याय मे किया गया है।

फूटनोट

1 हिन्दी समीक्षा स्वरूप और सन्दर्भ – राम दरश मिश्र पृ० 03
2 हिन्दी आलोचना उद्‌भव और विकास – भगवत स्वरूप मिश्र पृ० 143
3 हिन्दी समीक्षा स्वरूप और सन्दर्भ – राम दरश मिश्र – पृ० 2
4 हिन्दी आलोचना कोश, स० यशपाल महाजन – भूमिका निर्मला जैन
5 हिन्दी समीक्षा – स्वरूप और सन्दर्भ – राम दरश मिश्र, पृ० 4
6 हिन्दी की सैद्धान्तिक सस्करण – रामाधार शर्मा, पृ० 6
7 दयानन्द शताब्दी सस्करण – प्रथम भाग, पृ० 42
8 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 288
9 हिन्दी आलोचना – शिखरो से साक्षात्कार – रामचन्द्र तिवारी पृ० 10
10 आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – बच्चन सिह, पृ० 87
11 हिन्दी प्रदीप पत्रिका – बालकृष्ण भट्‌ट, जुलाई 1881
12 आनन्द कादम्बिनी पत्रिका स० प्रेमधन, जुलाई 1881
13 भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रन्थावली – स० ब्रजरत्नदास
14 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 288
15 हिन्दी प्रदीप पत्रिका सं० बालकृष्ण भट्‌ट, अप्रैल, 1886
16 हिन्दी प्रदीप पत्रिका स० बालकृष्ण भट्‌ट
17 प्रेमधन सर्वस्व भाग–2, स० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
18 प्रेमधन सर्वस्व भाग–2, स० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
19 प्रेमधन सर्वस्व भाग–2 (दृश्य रूपक का नाटक)–सं० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
20 प्रेमधन सर्वस्व भाग–2 स० प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय
21 हिन्दी प्रदीप पत्रिका – स० बालकृष्ण भट्‌ट – अक्टूबर, 1886
22 हिन्दी प्रदीप पत्रिका – स० बालकृष्ण भट्‌ट – अक्टूबर 1901
23 हिन्दी आलोचना कोश स0 यशपाल महाजन – भूमिका निर्मला जैन
24 हिन्दी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ० 17
25 सरस्वती पत्रिका का प्रथम प्रकाशन 1900 मे हुआ है।
26 साहित्यलाप स० स० – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 41
27 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल – पृ० 288
28 सरस्वती – स० महावीर प्रसाद द्विवेदी – सन् 1911, पृ० 311
29 साहित्यलाप स०– महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० 40–41
30 रसज्ञ रजन – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 20
31 रसज्ञ रजन – महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० 20
32 साहित्यलाप स०स० – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 54–55
33 साहित्यलाप स०स0 महावीर प्रसाद द्विवेदी पृ० 44
34 सचयन – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 137

35 सचयन – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 137–38
36 साहित्य सन्दर्भ – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 162
37 साहित्य सन्दर्भ – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 171
38 साहित्य सन्दर्भ – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 165
39 साहित्यलाप स० स० – महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ० 57
40 विचार विमर्श – महावीर प्रसाद द्विवेदी,
41 हिन्दी साहित्य का इतिहास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 281
42 हिन्दी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन, पृ० 17
43 हिन्दी आलोचना शिखरो से साक्षात्कार – रामचन्द्र तिवारी, पृ० 11
44 मिश्र बन्धु विनोद – मिश्र बन्धु – भूमिका
45 हिन्दी नवरत्न सप्तम स०–मिश्र बन्धु, पृ० 21
46 हिन्दी नवरत्न सप्तम् स०– मिश्र बन्धु, पृ० 21
47 हिन्दी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल, पृ० 63
48 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुकल, पृ० 281
49 हिन्दी समीक्षा · स्वरूप और सन्दर्भ राम दरश मिश्र, पृ० 46
50 पद्म सिह शर्मा के पत्र – स० बनारसी दास चतुर्वेदी, पृ० 6
51 पद्म पराग–प्रथम भाग–स० पारसनाथ सिह, पृ० 341
52 पद्म पराग – प्रथम भाग – स० पारसनाथ सिह, पृ० 345
53 बिहारी सतसई तुलनात्मक अध्ययन – पदम सिह शर्मा भूमिका, पृ० 22
54 बिहारी सतसई · तुलनात्मक अध्ययन – पदम सिह शर्मा भूमिका, पृ० 62
55 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 7
56 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 289
57 देव और बिहारी – कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 11
58 देव और बिहारी , कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 47
59 मतिराम ग्रन्थावली – कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 3
60. मतिराम ग्रन्थावली – कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 3
61. देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 51–52
62 देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 183–84
63 देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 167–68
64 देव और बिहारी– कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ० 167–68
65 हिन्दी नवरत्न – मिश्र बन्धु, पृ०–230
66 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 290
67 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 290
68 लक्ष्मी पत्रिका – स० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अंक
69 लक्ष्मी पत्रिका – स० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अक
70 लक्ष्मी पत्रिका – स० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अंक
71 लक्ष्मी पत्रिका – सं० लाला भगवानदीन, जनवरी, 1995 अक

72 बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, जुलाई–1995 अक
73 बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, भूमिका
74 बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, पृ० 63
75 बिहारी और देव – लाला भगवानदीन, पृ० 72–73
76 केशव पचरत्न – लाला भगवानदीन, आम्रशिका
77 हिन्दी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल, पृ० 96
78 गुप्त निबन्धावली –स०, पृ० 546
79 विश्व प्रपंच– रामचन्द्र शुक्ल, भूमिका – पृ० 56
80 चिन्तामणि भाग–2 – रामचन्द्र शुक्ल – पृ० 68
81 गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 15
82 गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 35
83 गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 411
84 गोस्वामी तुलसी दास–रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 11
85 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 79
86 त्रिवेणी – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 40
87 त्रिवेणी – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 37
88 त्रिवेणी – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 35
89 जायसी ग्रन्थावली – रामचन्द्र शुक्ल पृ० 152
90 सूरदास – स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 101
91 सूरदास – स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 106
92 सूरदास – स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 113
93 सूरदास – स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 111
94 सूरदास – स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 116
95 सूरदास – सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० 118
96 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ०–काल विभाग
97 हिन्दी साहित्य का इतिहास – रामचन्द्र शुक्ल, पृ० 186
98 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना – राम विलाश शर्मा, पृ० 07
99 साहित्यालोचन – बाबू श्याम सुन्दर दास, पृ० 31
100 पल्लव – सुमित्रा नन्दन पन्त, पृ० 49
101 सामयिकी – शातिप्रिय द्विवेदी, पृ० 225
102 सामयिकी – शांतिप्रिय द्विवेदी, पृ० 225
103 सामयिकी – शातिप्रिय द्विवेदी, पृ० 188
104 सामयिकी – शातिप्रिय द्विवेदी, पृ० 135
105 सामयिकी – शातिप्रिय द्विवेदी, पृ० 133
106 विश्वनाथ प्रसाद मिश्र वाड्मय विमर्श, पृ० 181–82
107 आधुनिक साहित्य – नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ० 84–85
108 हिन्दी साहित्य – बीसवी शताब्दी – नन्द दुलारे बाजपेयी, पृ० 87

द्वितीय अध्याय

साही के समकालीन आलोचकों की आलोचना-दृष्टि

(क) मार्क्सवादी समीक्षा

शिवदान सिह चौहान

प्रकाश चन्द्र गुप्त एवं अन्य प्रारम्भिक मार्क्सवादी समीक्षक

डॉ० राम विलाश शर्मा

गजानन माधव मुक्तिबोध

नामवर सिह

(ख) प्रयोगवादी कवि आलोचक

अज्ञेय

(ग) नयी कविता, नई समीक्षा के आलोचक

रघुवश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी

बीसवी शताब्दी के तीसरे दशक के बाद का समय न केवल हिंदी साहित्य मे ही बल्कि पूरी भारतीय जनमानस मे ही एक महत्वपूर्ण बदलाव का सकेत देता है। इस दौर की भारतीय राजनीति मे गॉधीवादी विचारधारा से अलग एक समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढने लगा। काग्रेस मे होने के बावजूद इनकी विचारधारा गाधीवाद से कुछ दूर होती दिखी। जवाहर लाल नेहरू का इस विचारधारा को पूर्ण समर्थन मिला। वस्तुत उत्तरछायावाद का काल और नेहरू के राजनीतिक उत्कर्ष के काल का समय लगभग एक है। साथ ही एक महत्वपूर्ण राजनीतिक घटना भारत मे कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना के रूप मे हुई। वस्तुतः यह मजदूर आन्दोलनो की परिणति थी।

वैसे तो 1920 मे ही ताशकन्द मे हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी के स्थापना की घोषणा हुई थी। लेकिन "भारत मे कम्युनिज्म के प्रचार के लिए तात्कालिक रूप से नरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य उर्फ मानवेन्द्र नाथ राय उत्तरदायी थे[1]।" भारत से बाहर भले ही कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हो चुकी थी लेकिन भारत मे विधिवत '1924 मे कानपुर मे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की घोषणा' की गयी[2]। हिन्दी साहित्य पर राजनीतिक विचारो खासकर 'कम्युनिस्ट' विचारधारा का महत्वपूर्ण प्रभाव पडा। परिणाम स्वरूप 1936 मे प्रगतिशील लेखक सघ की स्थापना लखनऊ मे हुई। जिसके पहले अधिवेशन की अध्यक्षता हिंदी कथाकार प्रेमचन्द ने की। वैसे तो इसे हिंदी प्रगतिशील साहित्य का मूलबिन्दु माना जाता है, लेकिन सच्चाई तो यह है कि इसकी स्थापना का श्रेय उर्दू साहित्यकारो को अधिक है। स्वय प्रेमचन्द का भाषण बकौल नामवर सिह उर्दू मे ही है। 11 अप्रैल 1986 को लखनऊ मे "प्रगतिशील लेखन आदोलन के पचास वर्ष" विषय पर व्याख्यान देते हुए डॉ० नामवर सिह ने कहा कि "प्रगतिशील आदोलन की शुरूआत कायदे से उर्दू के लेखको ने शुरू की थी .'रोशनाई' मे सज्जाद जहीर ने लिखा है कि हिंदी से प्रेमचन्द अपने साथ सिर्फ एक लेखक को लाये थे और वह थे जैनेन्द्र कुमार।"[3] शुरूआत भले ही दो लोगो ने की हो लेकिन आज के सदर्भ में इस धारा का महत्व अप्रतिम है। प्रगतिवाद ने हिंदी रचना आलोचना को एक नयी दृष्टि दी। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार "प्रगतिवाद का उद्देश्य था साहित्य मे उस सामाजिक यथार्थवाद को

प्रतिष्ठित करना, जो छायावाद के पतनोन्मुख काल की विकृतियो को नष्ट करके एक नये साहित्य और नये मानव की स्थापना करे और उस सामाजिक सत्य को, उसके विभिन्न स्तरो को, साहित्य मे प्रतिपादित होने का अवसर प्रदान करे।"[4]

1943 मे अज्ञेय सम्पादित 'तारसप्तक' के प्रकाशन के साथ ही हिदी साहित्य मे एक अन्य वाद 'प्रयोगवाद' का चलन आरम्भ हुआ। वस्तुत यह कोई वाद नही था। स्वय अज्ञेय और अन्य सहयोगी रचनाकारो ने इसे वाद से मुक्त रखने का आग्रह किया लेकिन जैसे छायावादी कवियो के विरोध के बावजूद 'छायावाद' चलन मे आया वैसे ही 'प्रयोगवाद' भी। प्रयोग से तात्पर्य क्या है? अज्ञेय कहते है "प्रयोग सभी कालो के कवियो ने किये है यद्यपि किसी एक काल मे किसी विशेष दिशा मे प्रयोग करने की प्रवृत्ति होना स्वाभाविक ही है। किन्तु कवि क्रमश· अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रो मे प्रयोग हुए है उन से आगे बढकर अब उन क्षेत्रो का अन्वेषण करना चाहिए जिन्हे अभी नही छुआ गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।"[5] तात्पर्य यह कि उन अन्वेषण क्षेत्रो को खोजने का काम प्रयोग है जो अब तक अप्राप्य थे। इसी कारण यह प्रवृत्ति 'व्यक्ति सत्य' को 'व्यापक सत्य' बनाने का प्रयास महत्वपूर्ण मानती है। अज्ञेय के अनुसार "जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उस की सम्पूर्णता मे पहुँचाया जाये यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[6]

प्रयोगवाद का हिन्दी साहित्य मे उदय एक विशेष सन्दर्भ मे हुआ है। लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार "प्रथम तो यह कि छायावाद ने अपने शब्दाडम्बर में बहुत से शब्दो और विम्बों के गतिशील तत्वो को नष्ट कर दिया था। दूसरी ओर प्रगतिवाद ने सामाजिकता के नाम पर विभिन्न भाव–स्तरो को एव शब्द सस्कारो को अभिधात्मक बना दिया था।"[7] तो स्वाभाविक था कि कवि अपने लिए नया रास्ता चुने। परम्परा से मुक्ति के साथ–साथ नयी काव्यशैली का अन्वेषण तथा समाज मे व्यक्ति की स्थिति आदि कुछ महत्वपूर्ण सूत्र है जिनका प्रयोग इस 'वाद' के कवियो ने किया। प्रयोगवाद का अगला साहित्यिक रूपान्तरण 'नयी कविता' के रूप मे हुआ।

प्रगतिशील लेखक सघ और तारसप्तक के बाद का महत्वपूर्ण घटनाक्रम हिन्दी साहित्य मे परिमल की स्थापना से है। परिमल सघ की स्थापना के मूल मे प्रयाग के नवयुवको का योगदान रहा है। सत्यप्रकाश मिश्र के अनुसार इसकी स्थापना का इतिहास यो है – "निराला के प्रसिद्ध काव्य सकलन से मानो प्रेरणा लेते हुए 10 दिसम्बर 1944 ई० को प्रयाग विश्वविद्यालय के साहित्यिक अभिरूची रखने वाले कुछ उत्साही युवक मित्रो द्वारा परिमल की स्थापना की गयी। इसका लिखित सविधान काफी बाद 23 फरवरी 1952 को तैयार हुआ।"[8] वस्तुत 'परिमल' की गोष्ठियो से इस काल के विचारको को नयी उर्जस्वित प्रेरणा मिली। प्रगतिशील लेखक सघ बनाम परिमल के वाद–विवाद ने हिदी साहित्य के विकास मे एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सन् 1950 के बाद के हिदी साहित्य धारा को नया मोड देने का सराहनीय प्रयास इस सस्था ने किया है। इसके मच पर एक तरफ अज्ञेय जैसा व्यक्तित्व दिखता है तो दूसरी तरफ नामवर सिह जैसा। स्वयं परिमल के सस्थापको मे आपसी वैचारिक मतभेद भी स्वस्थ 'लोकतन्त्र' की सूचना देता है। इसके महत्व को रेखाकित करते हुए श्रीकान्त वर्मा का कहना है कि "परिमल के सदस्यो ने लेखक और आलोचक की हैसियत से कम से कम दो दशको तक कविता की बहसो मे हिस्सा लिया। यह कहना ज्यादती नही होगी कि कुछ हद तक नयी कविता को अर्थ और आकार दिया[9]"।

इन्ही महत्वपूर्ण साहित्यिक आन्दोलनो की पृष्ठभूमि मे 'हिन्दी आलोचना' के क्षेत्र मे विजय देव नारायण 'साही' का आविर्भाव हुआ।

(क) मार्क्सवादी समीक्षा

शिवदान सिंह चौहान

शिवदान सिह चौहान हिन्दी आलोचना के प्रगतिशील खेमे के पहले सैद्धान्तिक आलोचक है जिन्होने न सिर्फ मार्क्सवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट स्वीकार किया बल्कि उसका व्यावहारिक रूप भी अपनी आलोचना मे प्रस्तुत किया। मार्च 1937 ई० के 'विशाल भारत' मे 'भारत मे प्रगतिशील साहित्य की आवश्यकता' लेख

में चौहान जी ने हिन्दी साहित्य की परम्परा का विवेचन करने के साथ–साथ प्रगतिशील साहित्य के सिद्धान्तों को सूत्रबद्ध करने का क्रान्तिकारी प्रयास किया। हिन्दी साहित्य की परम्परा को व्याख्यायित करते हुए चौहान जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि "भक्तिकाल में भी केवल आत्म–समर्पण भक्ति में तल्लीनता आदि भाव ही हमारे तुलसी–सूर आदि साहित्य में भर पाए थे। उनके बाद रीतिकाल में विचारधारा तो दूर हमारे कवि कविताबद्ध कोकशास्त्र लिखने लगे। उनसे इस अधोगति के अलावा और उम्मीद भी क्या की जा सकती थी। वर्तमान काल में भी किसी स्वस्थ विचारधारा का नाम नहीं।"[10] वस्तुतः यह सरसरी तौर पर निर्णयात्मक आलोचना का :खेमावादी' स्वरूप का पूर्व आभास है। प्रगतिशील आलोचकों की जो विध्वांसात्मक प्रवृत्ति रही है – अब यह कुछ हद तक मुक्त हो गयी है – उसका बीजरूप इस प्रारम्भिक निबन्ध में देखा जा सकता है।

वस्तुतः प्रगतिवाद एक दृष्टिकोण है जीवन को समग्र रूप में देखने का कोई प्रचारवाद या मतवाद का आन्दोलन नहीं। प्रगतिवादी समीक्षा साहित्य को समाज के परिप्रेक्ष्य में देखने की कायल रही है। इसी कारण वह साहित्य को 'रस' की पुष्टि का कारक नहीं मानती। प्रगतिवादी विचारधारा का मानना है कि समाज और व्यक्ति दोनों को जनवादी दृष्टिकोण से ही वैज्ञानिक तथा विश्वजनीय धरातल पर पहुँचाया जा सकता है। डा० चौहान की दृष्टि बराबर इसी बात पर केन्द्रित रही कि "व्यक्ति और समाज दोनों की भावी प्रगति के योग क्षेम की दृष्टि से जैसे कला और साहित्य का नव निर्माण प्रयोजनीय है वैसे ही उसके व्यापक मानव मूल्यों का निर्धारण भी उतना ही प्रयोजनीय है।"[11] 'मानव–मूल्यों' की तलाश में शिवदान सिंह चौहान साहित्य के रसवाद, मनोविज्ञानवाद, प्रभाववाद आदि को निरर्थक मानते हैं और इसी दृष्टिकोण के कारण प्रगतिवाद के तथाकथित 'वादियों' की भी आलोचना करते हैं। प्रगतिवादी आलोचकों की सीमादृष्टि से भली–भाँति परिचित चौहान जी का मानना है कि 'कुत्सित समाजशास्त्रीयता' केवल प्राचीन लेखकों का ही एक सीमा तक सही मूल्यांकन कर पाती है",[12] तात्पर्य यह कि ऐसी दृष्टि अपने समकालीन रचना का मूल्यांकन नहीं कर पाती क्योंकि वह किसी रचना के सामयिक महत्व को ही उसके स्थाई सौन्दर्य का पर्यायवाची स्वीकार करती आई है।"[13]

प्रगतिशील आलोचको के दोहरे मानदण्ड–प्राचीन लेखको के लिए अलग नये लेखको के लिए अलग – की मूलभूत कमजोरी को पकडने के साथ–साथ चौहान जी इस बात के लिए भी प्रयत्नशील रहे कि प्रगतिशील आलोचको की आलोचना दृष्टि कैसी हो।" प्रगतिवाद यदि किसी लेखक के सामाजिक सूत्रो को प्रकाश मे लाता है अर्थात उन सामाजिक परिस्थितियो का विश्लेषण करता है जिन्होंने लेखक को एक विशेष प्रकार से प्रभावित करके अपनी रचना के लिए प्रेरित किया तो वह उस रचना द्वारा समाज की बदलती परिस्थितियो पर पडे प्रभावो का भी मूल्याकन करता है।"[14] तात्पर्य यह कि उसकी दृष्टि यथार्थवादी होती है। यथार्थवादी इस दृष्टिकोण से कि "साहित्य या कला की कोई कृति अपने समय की वास्तविकता का निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र नही होती जिस प्रकार आइने मे पडा प्रतिबिम्ब होता है, बल्कि वह समाज या मनुष्य के अह (भाव–चेतन) का परिवर्तित परिस्थितियो मे भिन्न–भिन्न प्रभाव डालकर परिष्कार भी करती रहती है अर्थात् उसे बदलती रहती है। इसी कारण उस रचना का सौन्दर्य या मूल्य सामाजिक परिस्थितियो की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है।''[15] अर्थात् साहित्यकार (भाव–चेतना) और उसका सामाजिक सम्बन्ध प्रगतिवादी आलोचना का मूल है। स्वय चौहान जी ने इसी दृष्टिकोण से कविता, कहानी, रेखाचित्र, रिपोतार्ज, समीक्षा आदि पर विचार प्रस्तुत किया।

'कथा साहित्य की समस्याये' मे कथा साहित्य की जीवन्तता को लेकर चौहान जी का मानना है कि 'व्यक्तिगत और सामजिक' दोनो कारको के कारण ही कथा मे जीवन्तता या ऊर्जास्विता नही आ पाती है। "व्यक्तिगत यह कि हमारे तरूण लेखक कथा–साहित्य की आश्यकताओ के प्रतिसचेत नहीं है क्योकि उनके अध्ययन की परम्परा दोषपूर्ण है।"[16] सामाजिक कारको से क्या तात्पर्य है? डॉ० रामदरश मिश्र कहते है "चौहान जी का मानना है कि उत्कर्ष प्राप्त साहित्य वही है जिसका सामान्य धरातल भी ऊँचे उठा हुआ हो और ऐसा साहित्य तभी निर्मित हो सकता है जब उसका प्रत्येक कलाकार सामाजिक जीवन की सच्ची समस्याओं का एक सजीव किन्तु काल्पनिक चित्र देकर उसके समाधान की दिशाओं की ओर संकेत कर देता है।"[17]

कविता मे इसी व्यक्तिगत और सामाजिक सन्दर्भो की कमी के कारण चौहान जी को पन्त की कविता मे कोई मूल्यवान तत्व नहीं नजर आया। 'छायावादी कविता मे असन्तोष की भावना' के साथ "श्री सुमित्रानन्दन पन्त" की कविताओं का विश्लेषण करते हुए छायावादी कविता की उत्कृष्टता को लेकर चौहान जी ने बार–बार क्षोभ व्यक्त किया है। लेकिन परवर्ती काव्यधारा के समय मूलत. उत्तर छायावाद मे पन्त की कविताओ को महत्व इस बात पर दिया कि उनकी कविता मे प्रगतिशीलता के प्रारम्भिक लक्षण मिलते है। छायावाद के बाद की कविता को दो भागो मे बॉटते हुए चौहान जी ने इसे 'नाशवादी' स्वर और 'निर्माणवादी' स्वर बताया। पहली धारा भगवती चरण वर्मा, दिनकर की रही तो दूसरी धारा पन्त के परवर्ति कविताओ की। पन्त की विशेषताये चौहान जी की दृष्टि मे यह रही कि इन कविताओं मे छायावाद की अन्तर्मुखी, व्यक्तिवादी, केवल सौन्दर्यपासक, समाज–विरोधी कविता से पृथक प्रतीकवादी–यथार्थवादी (सिम्बालिक रियलिज्म) शैली की प्रारम्भिक झलक के साथ–साथ इन कविताओ मे अनीति, अत्याचार, पीडा, द्वेष के विरूद्ध क्रान्तिकारी स्वर मे भावयुक्त ओजपूर्ण ललकार है। सीमा बताते हुए चौहान जी ने इस तरह की कविता की मूल प्रवृत्ति को आराजकता की श्रेणी मे रखा। विचारधारा की कोई परिपाटी का न होना, क्रान्ति का कोई निश्चित मानक न होना, के साथ–साथ इन कविताओ मे बुद्धि और हृदय का समिश्रण न होकर केवल भावना प्रधान होना आदि पन्त की सीमा है।

प्रतीको को लेकर चौहान जी कभी आशवस्त नही थे लेकिन प्रतीको की महत्ता को वे नजरअन्दाज भी नही कर पाते है। 'यथार्थवादी प्रतीक' शैली को महत्पूर्ण मानना मूलत चौहान जी का प्रगतिशील साहित्य के प्रति अतिशय मोह का द्योतक है। वस्तुत विचारधारा प्रधान आलोचना होने के कारण साहित्य का मूल्यांकन बाधित होता है। चौहान जी इस खतरे से वाकिफ थे। लेकिन इससे पूर्णत. मुक्त नही हो पाये। शुक्लजी पर विचार करने के क्रम मे उनका यही 'वाद' स्वर प्रमुख हो गया जिससे उनकी दृष्टि सकुचित हो गयी है। शुक्लजी की सीमा को उन्होने प्रेषणीयता के सन्दर्भ मे देखा। चौहान जी का मानना है कि 'साधारणीकरण और लोकमगल' शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित साहित्य के इन दोनो आदर्शो या लक्ष्यो की

कल्पना अत्यत सकुचित और अवास्तविक है। प्रचलित रूढ धाराओ मे प्रकट सत्याभास ही उनके आधार है क्योकि धार्मिक शब्दाडबर त्याग कर 'साधारणीकरण' का तात्पर्य यदि केवल प्रेषणीय गुण है तो इस पर इतना जोर देना एक स्वय सिद्ध को सिद्ध करने का व्यर्थ प्रयास है और विशेषकर के तब जब प्रेषणीयता के आधार पर एकागी मूल्याकन ही सभव है।"[18]

वस्तुत शुक्ल जी कमिया बताने के क्रम मे चौहान जी अपने कट्टर दृष्टिकोण के कारण उस धरातल पर पहुँच गये है जहाँ से शुक्ल जी या किसी का भी मूल्याकन सभव नही है। सच तो यह है कि शुक्ल जी ने काव्य की कसौटी को सिर्फ 'प्रेषणीयता' ही नही माना, प्रेषणीयता को अन्य गुणो के साथ ही आवश्यक माना है। अगर प्रेषणीयता महत्वपूर्ण होती तो स्वाभाविक था 'निराला' को द्विवेदी कालीन कवियो से हीन समझते, लेकिन शुक्ल जी ने ऐसा कोई आभास कही नही दिया है। वस्तुत कट्टर मार्क्सवादी विचारधारा के लेखक अपने विचारो के प्रस्तुतीकरण मे पहले अपने 'दुश्मन' को निर्धारित करते हैं फिर उससे अपना बदला लेते है। इसी सकुचित दृष्टिकोण के कारण शुरूआती 'प्रगतिशीलता' सिर्फ विचारो, वादो की धरोहर मात्र रह गयी। बाद के प्रगतिशील विचारकों ने इससे मुक्ति का प्रयास किया तभी वह एक स्वस्थ सुन्दर रचना–आलोचना का सर्जनात्मक ससार निर्मित करने मे सक्षम हो सके। प्रेषणीयता की कसौटी पर स्वय शिवदान सिह चौहान की शैली भी गभीर, विचारो के भारीपन के बावजूद उलझावपूर्ण अधिक है विचारो का विशाल फलक तो है लेकिन सहज प्रवाह गति नही ।

प्रकाशचन्द्रगुप्त एवं अन्य प्रारम्भिक मार्क्सवादी समीक्षक

मार्क्सवादी विचारो से युक्त हिदी आलोचना सन् 40 के आस–पास से ही विचारोत्तेजक भाषा से अपना रास्ता चुन रही थी। शुक्लोत्तर आलोचको के साथ–साथ प्रगतिशील धारा के आलोचको ने अपने समसामयिक साहित्य के साथ–साथ परम्परागत साहित्य को जॉचने–परखने का काम जारी रखा। शुक्लोत्तर आलोचको की आलोचना बनी बनायी परिपाटी जो मुख्यत. शुक्ल जी से ही मिली थी पर अग्रसर हो रही थी तो वही प्रगतिशील विचारको को यह दृष्टि 'मार्क्स तथा

'ऐग्लस' के विचारो से मिली। यद्यपि दृष्टि या साहित्य को परखने की क्षमता–भले ही विदेशी भावयुक्त रही हो, लेकिन इस वर्ग के आलोचको ने इसे अपने जातीय सस्कृति से जोडकर निर्मित किया पर अति उत्साह के साथ–साथ खडित दृष्टिकोण तथा बने–बनाये सिद्धान्तो के विशेषाग्रह के कारण उनकी आलोचना मे वह गंभीरता तेजस्विता नही आ पा रही थी जिसकी पहचान शुक्ल जी करा गये थे। प्रगतिशील आलोचको के परम्परा की पहली पीढी शिवदान सिह, राहुल, रागेय राघव, यशपाल आदि की 'उदण्ड आलोचना' शैली ने हिदी आलोचना के उस मार्ग को अवरूद्ध कर दिया जिससे साहित्य के मर्म को उद्घाटित किया जाता रहा। डॉ० विश्वनाथ त्रिपाठी ने इन आलोचको की आलोचना दृष्टि की सीमा बताते हुए लिखा है ''प्रगतिवादी आलोचको और लेखको ने जिन्हे प्रगतिवादी का प्रतिनिधि समझा जाता था–खुलकर हिन्दी और सस्कृत के प्राचीन साहित्यकारो की भर्त्सना की। राहुल साकृत्यायन, यशपाल, रागेय राघव इसी प्रकार के प्रगतिवादी लेखक थे जो विद्वान एव लोकप्रिय साहित्यकार होते हुए भी अक्सर ऐसी बाते लिख जाते थे जो गलत भी होती थी और प्रगति विरोधी भी। किसी भी साहित्यकार मे दोष दिखाए जा सकते है लेकिन यदि तुलसीदास जैसे अत्यन्त लोकप्रिय कवि को प्रगतिवादी विद्वान आलोचक–लेखक इन शब्दो मे स्मरण करे तो क्या समझा जाए?

'ब्रजभाषा तब भी इस बारे मे कुछ समझ से काम लेती है, लेकिन तुलसी बाबा को तो हम अपनी अवधी मे लुटिया ही डुबोने के लिए तैयार दिखते है। शायद बाबा को अपने 'मानस' पर विश्वनाथ की मुहर लगवानी थी (राहुल पृ0 10, हिन्दी काव्य धारा प्रथम सस्करण)'

'रामनाम के प्रताप से जूठन बीनकर खाने वाला तुलसीदास (रागेय राघव, मार्क्सवादी और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन, डा0 राम विलाश शर्मा से उद्धृत)'

'तुलसी का भक्ति मार्ग केवल सवर्ण हिन्दू जनता की सांस्कृतिक एकता का प्रतिपादन करता है।' (यशपाल–वही से)[19]

इससे अलग की शैली के प्रयोक्ता प्रकाशचन्द गुप्त थे। वस्तुतः गुप्त जी की शैली प्रभाविव्यजकतापूर्ण शैली रही है। वे मार्क्सवादी विचारो से इतर कुछ भी नही

सोच–लिख पाते थे। गुप्तजी सामाजिक सम्बन्धों को मार्क्सवादी पद्धति पर तौलते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सामाजिक सम्बन्ध मूलत उत्पादन के साधनों पर आधारित होता है तथा जगत् का विकास द्वन्द्ववादी पद्धति पर आधारित होता है। जगत विकासशील है और यह "दो विरोधी तत्वो से मिलकर बनता है। इनमे सतत सघर्ष चला करता है। इन दो शक्तियो के तनाव से ही सत्य निकलता है। एक शक्ति हमे पीछे खीचती है दूसरी आगे ले जाती है। इस पारस्परिक सघर्ष से जो स्थिति उत्पन्न होती है उसमे कुछ पुराना होता है कुछ नया । यह समन्वय पिछली स्थिति से एक पग आगे अवश्य होता है। हम अपने अतीत को नही छोड सकते किन्तु उसमे उलझकर रूक भी नही सकते।"[20]

मार्क्सवाद के द्वन्द्वात्मक सिद्धान्तो के आधार पर प्राचीन साहित्य के साथ–साथ आधुनिक साहित्य (छायावाद) को परखते हुए गुप्त जी का मानना है कि "छायावादी कवियो की प्रेरणा समय के प्रवाह के साथ अधिकाधिक व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी होती गयी, यह स्वभाविक था, क्योकि विदेशी पूँजीवादी साहित्य और कला का प्रभाव भारत मे पड रहा था। पूँजीवाद के अन्तर्गत मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध टूट जाते है। पूँजीवाद समाज व्यवस्था मे पला कवि अपने को अकेला पाकर विकल होता है और उसका क्रन्दन कविता मे भर जाता है।"[21]

प्रकाशचन्द गुप्त ने न केवल हिन्दी साहित्य की मूलवर्तिनी धारा को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखा बल्कि मार्क्सवादी आलोचना को भी नयी दिशा–दृष्टि दी। प्रारम्भिक मार्क्सवादी आलोचक होने के कारण प्रकाश चन्द्र गुप्त ने न केवल परिपाटी गत आलोचना से मार्क्सवादी आलोचना को अलगाया बल्कि मार्क्सवादी आलोचना की विस्तृत व्याख्या भी प्रस्तुत की। "मार्क्सवादी आलोचक कला को सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का एक अग मानते है। वे कला को उसके ऐतिहासिक ढाचे मे रखकर देखते है। व्यक्ति की प्रतिभा को स्वीकार करते हुए वे उन परिस्थितियो की विवेचना करते है, जो कलाकार के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करती है अथवा कुठित करती है। साहित्य को सामाजिक विकास क्रम का दर्पण मानते हुए वे यह भी स्वीकार करते है कि कला समाज और राजनीति की गति को प्रभावित कर सकती है।"[22]

वस्तुत गुप्त जी की शैली उद्धरणात्मक पद्धति पर आधारित है। वे कवियो की अधिक से अधिक पक्तियो को उद्धृत करके बने–बनाये सैद्धान्तिक (मार्क्सवादी) नियमो से उसकी विवेचना करते है। जिससे यह सूचनात्मक, परिचयात्मक ही अधिक होती है, विवेचनात्मक अपेक्षाकृत कम। गुप्त जी के विवेचन मे मार्क्सवादी विचारधारा की काम चलाऊ जानकारी मिलती है, लेकिन उसमे किसी गम्भीरता का तत्व नही मिलता। प्रकाश चन्द्र गुप्त का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होने अपने सयमपूर्ण शैली से उस परम्परा को विकसित हाने से रोका जिसे चौहान जी के बाद राहुल, राघव, यशपाल ने शुरू किया था। डा० निर्मला जैन के अनुसार "सुबोधता, सरलता और शालीनता उनकी आलोचना के उल्लेखनीय गुण है।"[23]

इसी दौर मे प्रगतिशील आन्दोलन को आगे बढाने का काम अमृतराय ने किया है। अमृतराय ने बहुत ही बेबाक दृष्टि से प्रगतिशील साहित्य की कमियो को रेखाकित किया है। 'आधुनिक भावबोध की सज्ञा' मे अमृतराय ने विस्तार से आधुनिकता के तत्वो को रेखाकित किया है। वस्तुत अमृतराय ने प्रगतिशील विचारधारा को स्थापित करने मे अग्रणी भूमिका निभाई है, इस दृष्टि से वे इसके प्रयोजनकर्ता अधिक लगते हैं खॉटी आलोचक कम।

डॉ0 रामविशाल शर्मा

शुक्ल जी के बाद के आलोचको ने मूलत शुक्ल विरोध के आधार पर आलोचना के क्षेत्र मे प्रवेश किया था। शुक्लोत्तर आलोचकों के साथ–साथ प्रगतिवाद के प्रारम्भिक समीक्षको ने शुक्ल जी की असगतियो को निर्दिष्ट करने के क्रम मे बहुत सी अनर्गल बाते भी कही। पर इन सबसे अलग अपनी गहरी परिष्कृत मेधा के बदौलत डॉ० रामविलाश शर्मा ने शुक्ल जी की मान्यताओ को और अधिक विस्तार दिया। प्रगतिवादी समीक्षक होने के बावजूद डॉ० शर्मा ने न सिर्फ अपने सम–सामयिक रचनाकारो को जॉचा परखा बल्कि हिदी के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य को उसके जातीय स्वरूप मे देखा। अभी तक प्रगतिवादी समीक्षक अपने पूर्ववर्ती रचनाकारो खासकर सस्कृत के कवियो, तुलसी आदि को उदण्डतापूर्ण तरीके से प्रतिक्रियावादी कहकर उनका उपहास उडाते आ

रहे थे। डॉ० शर्मा ने प्रगतिवाद की कमजोरी को न सिर्फ दूर किया बल्कि बडे लगन और परिश्रम से प्रगतिवादी समीक्षा को हिन्दी आलोचना मे प्रतिष्ठित भी किया।

डॉ० शर्मा साहित्य मे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से 'यथार्थवाद' के कायल रहे है। उनका यथार्थवाद कोरा यथार्थरूप न होकर सामाजिक यथार्थ रहा है। सामाजिक यथार्थ क्या है? प्रगतिशील विचारक अमृतराय कहते है "यथार्थ के गरल को परिकर, जनक्रान्ति और सर्वहारा वर्ग की जीत मे आस्था बनाये रखना सामाजिक यथार्थवाद का मुख्य गुण है। इस आस्था का आधार है इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन।"[24] 'सामाजिक–यथार्थ' की दृष्टि से डॉ० शर्मा 'प्रेमचन्द्र' को प्रगतिशील और यथार्थवादी मानते हुए कहते है "एक ओर उनमे बीते युग की आदर्शवादी भावना है जो ठीक–ठीक बुद्धिवादी दृष्टिकोण से यथार्थ का सामना करने से हिचकती है, दूसरी ओर उनका यथार्थवादी दृष्टिकोण है जो सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर तीव्र प्रकाश डाल उसकी विभत्स नग्नता को हमारे सामने ला खडा करता है।"[25]

यथार्थवादी दृष्टिकोण से डॉ० शर्मा ने न सिर्फ आधुनिक काल को विवेचित किया बल्कि हिन्दी साहित्यकारो की जातीय परम्परा जिसमे कबीर, तुलसी, भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथलीशरण गुप्त, आचार्य शुक्ल, प्रेमचन्द्र, पन्त, निराला, नरेन्द्र शर्मा, शिवमंगल सिह सुमन आदि आते है को 'प्रगतिशील' स्वीकार किया है। डा० शर्मा का मानना है कि "इन्होने सामान्य जनता मे सामाजिक चेतना या राजनीतिक चेतना फैलाने के लिए किस तरह से साहित्य रूपो को इस्तेमाल किया, किस तरह की भाषा लिखी, गद्य मे किस तरह अनेक विधाओ का उपयोग किया और यह सब इस बात की चिन्ता किये बिना कि यह शाश्वत मूल्यो वाला साहित्य है कि नही, यह सब इसे सीखा जा सकता है।"[26]

डॉ० रामविलाश शर्मा के आलोचना कर्म का सबसे उदान्त स्वरूप 'निराला' की विवेचना मे मिलता है। जिस सहृदयता, तटस्थता से आचार्य शुक्ल ने 'तुलसी' का, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' का विवेचन किया है उसी परम्परा का विकसित रूप डा० शर्मा का 'निराला की साहित्य साधना' है। 1947 में डॉ० शर्मा ने

'निराला' नाम से एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी थी। पुस्तक लिखने का कारण डॉ० शर्मा के अनुसार यह था कि "जितने रीतिवादी थे वे तो 'निराला' पर आक्रमण करते ही थे, बहुत से तथाकथित राष्ट्रवादी भी यह समझते थे कि हमारा 'महाकवि' वाला आसन 'निराला' छीने ले रहे है।"[27]

वस्तुत' यह पुस्तक उस दौर कि है जिस काल मे शर्मा जी की आलोचना शैली 'विध्वसात्मक' थी। तीक्ष्ण, कटीली शब्दावली मे शर्मा जी ने सन् 1953 तक अपनी इसी शैली मे ही आलोचना लिखी। इसका कारण बताते हुए डॉ० शर्मा ने प्रकाश मनु से एक साक्षात्कार मे कहा कि "मै प्रगतिशील लेखक संघ का महासचिव था। एक चरण सन् 34 से 43 तक का है। सन् 43 मे आगरा आया और प्रगतिशील लेखक सघ मे अधिक सक्रिय भूमिका निभाने लगा। यह चरण 1953 तक चला। इस समय बहुत से विवाद प्रगतिशील लेखको के बीच थे। उन पर भी मैंने लिखा। जिसे मारधाड की आलोचना आप कह रहे है, वह भी इसी समय की है।"[28] वैसे मारधाड की शैली से परवर्ती रामविलाश शर्मा ने कुछ परहेज अवश्य किया लेकिन इससे मुक्त नही हो पाये।

'निराला की साहित्य साधना' तीन खण्डो मे लिखी गयी है। पहला खण्ड निराला की जीवनी से सदर्भित है तो दूसरा निराला की विचारधारा और कला से तीसरे खण्ड मे पत्रो का सग्रह है। जीवनी मे डा० शर्मा ने निराला की गाथा को हिन्दी साहित्य के सघर्ष की गाथा बताया है। "जो सारी शक्ति हमारी हिन्दी भाषा और साहित्य की है, वह निराला में आकर जैसे केन्द्रित हो गयी है। वे उसके एक मात्र प्रतिनिधि नहीं है पर वे उसके सबसे बडे प्रतिनिधि है।"[29] छायावाद के ऊपर सबसे बडा आरोप उसके रहस्यवादी विचारों को लेकर लगा था। डा० शर्मा ने निराला के विवेचना क्रम मे इस आरोप को निराधार बताया है। निराला के कलात्मक सौन्दर्य को रेखाकित करते हुए डा० शर्मा का मानना है कि "निराला के कलात्मक सौन्दर्य का गहराई से विश्लेषण करने पर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को किन समस्याओ का सामना करना पडेगा। इसे निराला के सन्दर्भ से जाना जा सकता है[30]"। निराला की महत्ता बताते हुए डा० शर्मा ने निराला को 'ट्रेजिक कवि' माना। वस्तुत महाकवि ही ट्रेजिक कवि हो सकता है। डा० शर्मा के अनुसार "उदान्त

करूणा सघर्ष की क्षमता दु ख का गहन बोध ट्रेजिडी के मूल उपकरण है। 'निराला' को ये उपकरण सघन मात्रा मे प्राप्त थे। वह अपने युग के सबसे बडे ट्रेजिक कवि है।''[31]

अपने प्रगतिवादी दृष्टिकोण से डा० शर्मा ने न सिर्फ निराला के साहित्य को ही जॉचा–परखा बल्कि साहित्य के मूल भावो को केन्द्र मे रखकर हिन्दी की जातीय अस्मिता की भी तलाश की। इस दृष्टि से निराला की साहित्य साधना सिर्फ निराला की ही न होकर हिन्दी काव्यधारा की भी साहित्य साधना है।

रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा तुलसी के समर्थन के साथ–साथ निर्गुणवादी धारा के विरोध के कारण प्रगतिशील विचारक शुक्ल जी को हिन्दूवादी आलोचक मानते आ रहे थे। शर्मा जी ने इसका विरोध कर शुक्ल जी के निष्कर्षों को सही ठहराया शर्मा जी का यहॉ तक मानना है कि "हिन्दी साहित्य मे शुक्ल जी का वही महत्व है जो उपन्यासकार प्रेमचन्द्र या कवि निराला का। उन्होने आलोचना के माध्यम से उसी सामन्ती सस्कृति का विरोध किया जिसका उपन्यास और कविता के माध्यम से प्रेमचन्द्र और निराला ने।''[32]

'नयी कविता और अस्तित्ववाद' मे नयी कविता के इतिहास को बताते हुए डा० शर्मा का मानना है कि ''जहॉ तक मुझे मालूम है कि सन् 47 से पहले प्रयोगवाद शब्द का व्यवहार नही हुआ। सन् 46 मे शमशेर ने तारसप्तक की जो आलोचना 'नया साहित्य' मे की थी उसमे प्रयोगो का जिक्र है। प्रयोगवाद का नही। 'प्रयोगवाद' शब्द की जरूरत तब हुई जब 'प्रगतिवाद' के विरोध मे एक नये 'वाद' को स्थापित करना जरूरी हुआ।''[33] इसी प्रयोगवाद की अगली कडी 'नयी कविता' है जिसको जगदीश गुप्त ने शुरू किया और आशिर्वाद अज्ञेय ने दिया। 67 तक आते–आते 'नयी कविता भी मृतपाय सी हो गयी। राजीव सक्सेना के अनुसार ''अब (सन् 1967 में) तो किसी को यह कहने का साहस नही है कि नयी कविता जीवित है।''[34]

'नयी कविता और अस्तित्ववाद' मे नयी कविता के इतिहास के साथ–साथ डॉ० शर्मा ने अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, नागार्जुन का मूल्यांकन भी किया है। अज्ञेय की कविता को प्रगति विरोधी बताने के साथ–साथ उसे रहस्यवादी मानते हुए डॉ०

शर्मा ने प्रसाद के रहस्यवाद से अज्ञेय के रहस्यवाद को अलग बताया। विजयदेव नारायण साही ने अपने विवेचन मे स्वीकार किया था कि "कामायनी" मे जो अनुभूति दर्शन मे परिवर्तित हो जाती है, उसे अज्ञेय फिर दर्शन से अनुभूति मे परिवर्तित करते है।"[35] डा० शर्मा की टिप्पणी है "चतुर कवि यही करते है अनुभूति किसी की हो, दार्शनिक सत्य किसी का उसे वे उतार लाते है अपनी अनुभूति के स्तर पर[36]"।

मुक्तिबोध को भाववादी कवि मानते हुए डा० शर्मा ने मुक्तिबोध के सघर्ष को अनेक स्तरो का सघर्ष माना है। "एक स्तर है– निम्न वर्ग की भूमि को छोडकर सर्वहारा वर्ग से तादात्म स्थापित करने का, दूसरा स्तर है मन के दु.स्वपनो, पाप–बोध, मृत्यु–चिन्तन, असामान्य मानसिक स्थिति से निकलकर स्वय को और ससार को वस्तुगत रूप से देखने का, तीसरा स्तर है – अपनी काव्यकला को निरन्तर विकसित करने का[37]"। वस्तुत मुक्तिबोध के इसी आत्मसघर्ष की परिणति उनकी कविता का मूल है। शमशेर के बारे मे डा० शर्मा का कहना है कि उनका काव्य रीतिवादी रूमानी, सौन्दर्यबोध और मार्क्सवादी विवेक के द्वन्द्व का काव्य है। शमशेर के काव्यकला के सदर्भ मे डा० शर्मा की टिप्पणी है कि "शमशेर जितनी खूबसूरती से उर्दू के रीतिवाद का प्रभाव ग्रहण करते है उतनी खूबसूरती से हिन्दी के रीतिवाद या छायावाद का प्रभाव ग्रहण नही कर पाते[38]"। इसी विवेचन क्रम में डा० शर्मा ने शमशेर को बिम्बो का रहस्यवादी कवि माना है। नागार्जुन के कवि महत्व को रेखाकित करते हुए डा० शर्मा ने लिखा है "जब नयी कविता का अस्तित्ववादी सैलाब सूख चुका होगा, जब मध्य वर्ग और किसानो और मजदूरो मे भी जन्म लेने वाले कवि दृढता से अपना सम्बन्ध जन आन्दोलनो से कायम करेगे तब उनके सामने लोकप्रिय साहित्य और कलात्मक सौन्दर्य के सतुलन की समस्या फिर पेश होगी और तब साहित्य और राजनीति मे उनका सही मार्गदर्शन करने वाले अपनी रचनाओ के प्रत्यक्ष उदाहरण से उन्हें शिक्षित करने वाले उनके प्रेरक और गुरू होंगे कवि 'नागार्जुन'[39]"। क्योकि "हिन्दी साहित्य की जीवन्त परम्परा और भारतीय जनता के साहसी अभियान के प्रतीक है–कवि नागार्जुन[40]"।

डॉ० शर्मा के पूर्व हिन्दी आलोचना मूलत. कवितावादी रही है। साहित्य की अन्य विधाओ पर चलताऊ तरीके से ही विचार होता आया है। वह गम्भीरता व

तेजस्विता नही मिलती जो कविता की आलोचना मे मिलती है। डा० शर्मा ने अपने गम्भीर चिन्तन से साहित्य के गद्य लेखको पर भी मार्क्सवादी दृष्टि से कलम चलाई। इनके मूल्याकन मे लेखको की प्रवृत्ति और उनकी विचारधारा पर अधिक जोर है। निराला के कथासाहित्य का मूल्याकन करते हुए डा० शर्मा ने लिखा है कि "जो यथार्थवादी धारा अप्सरा, अलका के छायालोक मे धुँधली थी वह यहाॅ (देवी, चतुरी चमार) पूरी शक्ति से यथार्थ की धरती पर प्रवाहित है[41]"। कुल्लीभाट छायावादोत्तर गद्य का सबसे सर्जनात्मक रूप है। डा० शर्मा के अनुसार "रेखाचित्र, सस्मरण, आत्मचरित्र, जीवनचरित्र, लघु उपन्यास अनेक विधाओ के तत्व लेकर रची कुल्लीभाट की कथा हिन्दी मे यथार्थवादी साहित्य के विकास मे नयी कडी साबित हुई[42]"। वृन्दालाल वर्मा के कथा साहित्य की कला "यथार्थवादी और रोमाटिक कल्पना का मिश्रण है[43]" तो प्रेमचन्द की "क्रान्तिकारिता, यथार्थता व्यक्त हुयी है दमन के चित्रण मे[44]"। इसी दृष्टि से डा० शर्मा ने अमृतलाल नागर के उपन्यासो की समीक्षा की है। डॉ० शर्मा ने अपने समकालीनो–समवय के रचनाकार की रचनाओ पर बराबर दृष्टि रखी लेकिन वाहवाही लूटने के लिए उनकी पीठ नही थपथपाई ।

डा० शर्मा ने अपने चिन्तन मनन से हिन्दी साहित्य का विवेचन तो किया ही 'भाषा' पर भी दृष्टिपात किया लेकिन उनका सबसे महत्वपूर्ण अवदान हिन्दी आलोचना के सन्दर्भ से यह है कि अपने 'यथार्थवादी' बीज शब्द के आधार पर उन्होने एक ऐसी शैली का निर्माण किया जिससे हिन्दी आलोचना आम जनता के लिए पठनीय बन सकी है। डा० निर्मला जैन के अनुसार "हिन्दी आलोचना की भाषा के निर्माण मे रामविलाश शर्मा का योगदान महत्वपूर्ण है। शास्त्रीय दुरूहता से मुक्त बोल–चाल के पारदर्शी गद्य में जटिल से जटिल बात को सुलझा कर कहने की कला मे डा० शर्मा बेजोड है। उनके हाथो से आलोचना जन सामान्य के लिए भी पठनीय बन सकी[45]"। विश्वनाथ त्रिपाठी का तो यहाॅ तक मानना है कि "इस समय इतना अर्थगर्भित निर्दोष और आडम्बरहीन गद्य लिखने वाल हिन्दी मे दूसरा कोई नही दिखलाई पडता। वे विशेषणो का प्रयोग यथा सम्भव कम करते है। व्यर्थ पदावलियो के सहारे अपनी शैली का मेकअप नही करते[46]" तो रामदरश मिश्र कहते है कि "शर्मा जी मे मौलिकता है, वे पिटे–पिटाये, घिसे–घिसाये मार्ग से चलना पसन्द नही

करते, उनकी अभिव्यक्ति की प्रणाली बडी ही स्पष्ट, प्रत्यक्ष और तीखी है और पाठकों को सीधे प्रभावित करती है[47]"।

डॉ० शर्मा की आलोचना शैली ही नही बल्कि उन्होने 'भाषा' से लेकर भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य शुक्ल, निराला, प्रेमचन्द्र के साथ–साथ अपने समकालीन रचनाकारो का जो विशद् मार्मिक, तटस्थ और सटीक विवेचन मार्क्सवादी दृष्टि से किया है–जो एक तरह का क्रमबद्ध इतिहास सा जान पडता है–का महत्व हिन्दी आलोचना मे अप्रतिम है।

डा० शर्मा के हिन्दी आलोचना मे अवदान के महत्व को रेखाकित करते हुए नन्द किशोर नवल का मानना है कि "हिन्दी आलोचना को उनकी सबसे बडी देन यह है कि उन्होने साहित्य मे शुक्ल जी के भौतिकवादी दृष्टिकोण को वैज्ञानिक रूप से विकसित कर उसे सामाजिक परिवर्तन के एक सास्कृतिक अस्त्र के रूप मे अधिक कारगर बना दिया है[48]"।

गजानन माधव मुक्तिबोध

हिन्दी आलोचना में 'कवि आलोचक' की परम्परा अपने प्रारम्भिक समय से चली आ रही है। स्वय भारतेन्दु का 'नाटक' इसका प्रमाण है। महवीर प्रसाद द्विवेदी भी स्वय कविता करते थे। लेकिन एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि ये 'कवि–आलोचक' अपनी कविताओ के बारे मे आलोचना न करके साहित्य के सम्पूर्ण स्वरूप को लेकर विवेचना करते थे। 'छायावाद' के कवियो ने जो आलोचना की है वह अपनी कविताओ, विचारो, दर्शन, अनुभूति को लेकर है – एक नयी पद्धति का द्योतक है लेकिन इसे स्वस्थ परम्परा का नाम नही दिया जा सकता। वस्तुत. छायावाद की 'मनोभूमि' को तत्कालीन आलोचकों ने उसे उसकी सम्पूर्णता मे नही समझा जिसके चलते उन्होने छायावाद को 'विदेशी' सज्ञा दे दी। इसी बात को केन्द्रित कर पन्त, प्रसाद, निराला ने अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए स्वय आलोचक का दायित्व निभाने का प्रयास किया। प्रगतिशील कवियो ने अपने को इस 'मोहग्रस्तता' से बचाया। पर 'नई कविता' के दौर मे कवि–आलोचको की एक नई पीढी अग्रसर होती दिखाई देती है। लेकिन इनका छायावाद के कवि–आलोचकों से अन्तर यह है कि ये

अपनी कविताओ के बजाय अपने समकालीन साहित्य को जॉचने परखने मे विश्वास करते है। 'नई कविता' के प्रमुख कवि–आलोचको मे मुक्तिबोध, विजय देव नारायण साही ऐसे दो प्रमुख आलोचक रहे है जिन्होने अपने बौद्धिक विवेक से न केवल अपने समसामयिक रचनाकाल पर हस्तक्षेप किया है बल्कि 'आलोचना' को एक नई भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया है। मूलत ये कवि थे लेकिन 'आलोचना' मे इनका 'कवि' बाधक न होकर न एक 'सर्जक–साधक' के रूप मे प्रस्तुत होता है। इसलिए ये साहित्य के 'चिन्तक' अधिक लगते है आलोचक कम। आलोचक कम इस दृष्टि से इनकी व्यावहारिक समीक्षा – जैसे किसी कृति या लेखक को लेकर आलोचना की कोई पुस्तक लिखना–बहुत ही नाम मात्र की है। लेकिन साहित्य का स्वरूप कैसा हो, उसकी अपनी परम्परा कैसी है–कविता का समाज, राजनीति का समाज–साहित्य मे कैसे स्थान पाता है साथ ही किसी कवि की रचना समय से कैसे टकरा कर एक नई रचना बन जाती है, जैसे विषयो पर इन दोनो कवि–आलोचको ने एक लम्बी बहस चलाई, जिसके परिणामस्वरूप स्वतन्त्रता के बाद का प्रारम्भिक दशक आलोचना के क्षेत्र मे 'मुठभेड का दशक' सा जान पडता है।

मुक्तिबोध ने जयशकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' को लेकर मार्क्सवादी दृष्टि से 'कामायनी एक पुनर्विचार' मे जो विचार व्यक्त किये है, उससे उनके आलोचकीय दृष्टि की क्षमता का पता चलता है। कामायनी पर उनका यह आलोचनात्मक चिन्तन बहुत पहले से ही चला आ रहा था। हंस के नवम्बर 1945 और फरवरी 1946 मे 'कामायनी' कुछ नये विचार शीर्षक से इनके दो लेख मिलते है। जिसकी अन्तिम परिणति 1961 मे 'कामायनी एक पुनर्विचार' के रूप में है। आखिर ऐसे कौन से कारण थे कि मुक्तिबोध को कामायनी पर पुनर्विचार करने पडे। मुक्तिबोध का कहना है कि "कामायनी" साहित्य के 'रसवादी–छायावादी' पुराणपथियो के हाथ मे नवीन–प्रगति–शक्तियो के विरूद्ध एक शास्त्र बन गयी[49]"। और "भाववादी आलोचको ने प्रसाद जी से भी आगे बढ कर 'कामायनी' का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्वो को प्रच्छन्न कर दिया[50]"। साथ ही उन्होने 'कामायनी' के सम्बन्ध मे हर तरह की ऊँचे किस्म की गलतफहमियॉ भी फैलाई[51]"।

इन्ही गलतफहमियो को दूर करने के प्रयास का प्रतिफलन है 'कामायनी एक पुनर्विचार।'

प्रसाद के मनु श्रद्धा और इडा को ऐतिहासिक पात्र मानने की वकालत की परम्परा का विरोध करते हुए मुक्तिबोध ने माना कि "वेदकालीन मनु कामायनी का मनु नही है। उसे मनन मात्र का, मनभ्रान्त का, मानव–मात्र का प्रतिनिधि मानना सरासर गलत है[52]"। तो यह मनु कैसा है? "प्रसाद का मनु उसी वर्ग का मनु है, जिस वर्ग के स्वय प्रसाद है[53]"। तात्पर्य यह कि मनु मध्य व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधि है या अधिक से अधिक मध्यवर्गीय भारतीय जनमानस का प्रतिनिधि। प्रसाद के वर्ग से कामायनी के मनु को जोडते हुए मुक्तिबोध उसे अपने समय के श्रेष्ठ पूँजीवादी वर्ग का पुत्र ही नही बल्कि "सामन्त–व्यवस्था के शासक वर्गों का पुत्र[54]" माना, जो कि "नई ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के कारण पूँजीवाद, व्यक्तिवाद, सामन्तवर्गीय प्रवृत्तियो की तानाशाहियत को अपने खून में लिये हुए है[55]"। और ये प्रवृत्तियाँ है "अहकार, विलासिता, आत्ममोह, निर्बंध, उच्छृखलता व्यक्तिवादी साहस, व्यक्तिवादी निराशा, पाखण्ड और ऐसा आत्मग्रस्त निविड आत्म विश्लेषण जो पराजय से प्रसूत होकर पराजयो की ओर ले जाता है[56]"।

वस्तुत मुक्तिबोध ने कामायनी को रूपक मानने से इकार करते हुए उसे 'फैटेसी' माना है। मुक्तिबोध स्वय फैटेसी के कवि है। स्वाभाविक था कि कामायनी को फैटेसी के रूप में विश्लेषित करने के क्रम मे उनका 'कवि व्यक्तित्व' उनके 'आलोचनात्मक–व्यक्तित्व' को प्रभावित करता। फैटेसी के रूप मे कामायनी को देखने से मुक्तिबोध को इस काव्य मे आत्मपरकता के दर्शन होते है। "कामायनी अपनी कथात्मकता–चरित्रात्मकता के बावजूद भी वस्तुत. प्रमुख रूप से आत्मपरक काव्य है[57]"।

मुक्तिबोध 'कामायनी' के मनौवैज्ञानिक अतदृष्टि को ध्यान में रखने के बावजूद मनु को 'वर्ग–चरित्र' के रूप मे देखते है। जिसमें ध्वस्त सामन्तवाद के चारित्रिक रूप की झलक मिलती है। इसी सूत्र से उन्होने 'कामायनी' के नारीपात्रों 'इडा और श्रद्धा' को भी देखा है। महाकाव्य मे जितने पात्र आये है उनमें "इडा का व्यक्तिगत चरित्र

दृढतम और उज्जवलतम है[58]'' और श्रद्धा ''आत्मबद्ध भावुकता के आदर्शीकरण का नाम है[59]''। श्रद्धा की आत्मबद्धता इस हद तक है कि उसका ''कोई अपना सार्वजनिक जीवन नही है[60]'' और इस दृष्टि से उसके वाचिक विधान ''ज्ञान, क्रिया, इच्छा'' का कोई अर्थ नही रह जाता। मुक्तिबोध के लिए कामायनी की समस्या और उस समस्या से मुक्ति का द्वन्द्व जिसके ''अन्तर्विरोध के तनाव की कोख से कामायनी का जन्म हुआ है'' की अन्तिम परिणिति सन्देहास्पद हो जाती है क्योकि ''इच्छा, ज्ञान, क्रिया का सामजस्य वास्तविक जीवन–क्षेत्र मे होता है, न कि ससार से पलायन करके हिमालयीन शिखरो पर[61]''।

प्रसाद ने स्वय कामायनी के आमुख मे स्वीकार किया है'' यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास मे रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए साकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करे तो मुझे कोई आपत्ति नही[62]''। कामायनी पर विचार करने के क्रम मे मुक्तिबोध पूर्व इसी सूत्र का इस्तेमाल होता आया था। मुक्तिबोध ने अपने आलोचकीय विवेक और कवि व्यक्तित्व से इस सूत्र से कामायनी की रचना प्रक्रिया को अलगा कर उसे रूपक–प्रतीकवाद से मुक्त करने का प्रयास किया। लेकिन मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विवेचन खासकर 'हिमालय की तरफ पलायन' बहुत कुछ पूर्वग्रह सा जान पडता है। ध्यातब्य है कि रामधारी सिह दिनकर ने अपने निबन्ध 'कामायनी दोषरहित–दूषण सहित' मे मनु–श्रद्धा के पलायनवाद के विषय मे लिखा है कि ''विचारने की बात यहॉ यह है कि हिमालय के शिखर पर कितनी आबादी थी, जिसकी सेवा मनु और श्रद्धा कर रहे थे। कवि का भाव, कदाचित, यह है कि जो तीर्थयात्री वहॉ पहुॅचते थे, उन्हे दपति युगल धर्मोपदेश दिया करते थे। उपदेश देना भी सेवा के अन्दर गिना जा सकता है, किन्तु सेवा का वह कर्म नही ज्ञान पक्ष है[63]''। लगभग इसी बात को मुक्तिबोध ने अपने विवेचन मे दुहरा दिया है। वस्तुतः 'कामायनी' को प्रतीकात्मक अर्थ मे न स्वीकारने के कारण ही यह दृष्टि भ्रम हुआ है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी ने मुक्तिबोध के कामायनी सम्बन्धी विवेचन को महत्वपूर्ण माना है ''गजानन माधव मुक्ति बोध ने कामायनी की समझ को बढाने मे निश्चय ही योग दिया है। विशेषतः उसे फतासी के रूप मे व्याख्यायित करके उन्होने रचना के स्थूल कथानक का रग काफी

हल्का कर दिया है[64]'' इसकी सार्थकता को स्वीकार करते हुए हुए भी चतुर्वेदी जी इसमे 'मार्क्सवादी–दृष्टि का पूर्वग्रह' मानते है ''मुक्तिबोध की यह समीक्षा निश्चय ही विचारोत्तेजक है तथा और भी सार्थक हो पाती, यदि वे अपने मार्क्सवादी चिंतन को यहॉ आख्यान पर स्थापित करने का आग्रह न करते[65]''।

मुक्तिबोध आलोचक से इस बात की उम्मीद करते है कि वह कवि से अधिक उस जीवन को जाने जिस जीवन की बात कवि करता है, जो आलोचक इस बात को नही जानते वे मूलत यात्रिक विवेचन करते है। इस एकागी दृष्टिकोण से साहित्य की समीक्षा नही की जा सकती। मुक्तिबोध मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य के साथ–साथ सामाजिक सम्बन्धो को एकाकार के पक्षपाती रहे है क्योकि ''जब तक हम समीक्ष्य साहित्य का मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक विवेचन के द्वारा समाजशास्त्रीय विश्लेषण नही करते तब तक हम उसके अन्त स्वरूप का उसकी क्षमताओ तथा सीमाओं का पूरा विवेचन तथा मूल्याकन भी नहीं कर सकते''।[66]

एक सतत् विकासमान चितन प्रणाली के आलोचक मुक्तिबोध ने मूलत. अपने विचार आधुनिक कविता यथा–छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद नयी कविता' पर व्यक्त किये है। लेकिन इनके विवेचन मे उन्होने हिदी कविता की परम्परा को ध्यान मे रखा है। ''नई कविता का आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध'' में मुक्तिबोध ने नई कविता के सामर्थ्य और सीमा का विशद विश्लेषण किया है साथ ही अपने समकालीन आलोचको की आलोचना दृष्टि की सीमा को भी रेखाकित किया है। नई कविता के मूल्याकन मे प्रगतिवादी आलोचको से इस बात को लेकर मुक्तिबोध को शिकायत थी कि ''ये समीक्षक नवीन जीवन प्रक्रियाओ को नही समझ सके और प्रयोगवादी कविता या नई कविता के पूरे क्षेत्र को बदनाम करके उसे 'प्रतिक्रिया' के हाथों मे खेलने के लिए छोड दिया, अपने हाथो, जानबूझकर, उसके हवाले कर दिया।''[67] और यही नही उन्हे इस बात से भी शिकायत थी कि प्रगतिवादी आलोचक एक जुट होकर प्रतिक्रियावादी आलोचको से नही टकराते। सिर्फ रामविलाश शर्मा ही ऐसे जान पडे जो 'चिढते–खीझते', 'तडपते–छटपटाते' हुए अपनी शक्ति के अनुसार'[68] प्रतिक्रियावादियो से लोहा लेते है। मुक्तिबोध का मानना है कि ''यह एक व्यक्ति का काम नही है। डॉ0 राम विलाश शर्मा, श्री शिवदान सिह चौहान, श्री प्रकाश चन्द गुप्त, श्री अमृत

राय, डॉ0 नामवर सिह तथा इनके अतिरिक्त यशपाल और नागार्जुन जैसे लेखक कलाकार क्या कभी इकट्ठा होकर, सम्मिलित रूप से काम नही कर सकते थे। क्या इस सम्बन्ध मे, इस क्षेत्र मे, सगठित और सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता नही है।''[69]

इसी आलोचनात्मक निबन्ध सग्रह मे ''मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन का एक पहलू' मे न सिर्फ मध्ययुगीन साहित्य के कवियो की सामाजिक दृष्टि पर विचार किया गया है बल्कि इस साहित्य के प्रमुख दो आलोचको रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक विश्लेषण की सीमा भी बतायी गयी है। मुक्तिबोध का कहना है कि ''पण्डित हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना ठीक है कि भक्ति धारा बहुत पहले से उद्गत होती रही और उसकी पूर्व भूमिका बहुत पूर्व से तैयार होती रही, किन्तु उनके द्वारा निकाला गया यह तर्क ठीक नही मालूम होता कि मध्ययुगीन भक्तो की भावना मे जनता के सासारिक कष्टो के तत्व नही है। पण्डित रामचन्द्र शुक्ल के इस कथन मे हमे पर्याप्त सत्यतता मालूम होती है कि भक्ति आन्दोलन का मूल कारण जनता का कष्ट है । किन्तु प0 शुक्ल ने कष्टो को मुस्लिम विरोधी और हिन्दू राजसत्ता के पक्षपाती जो अभिप्राय निकाले है वे उचित नहीं मालूम होते।''[70]

मुक्तिबोध के लिए आलोचना की प्रक्रिया बहुत कुछ काव्य–रचना प्रक्रिया की तरह है। 'एक साहित्यिक की डायरी' के उनके चितन मे इसे स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। कभी–कभी विचारो की एक ऐसी लम्बी प्रक्रिया चल पडती है जैसी उनकी लम्बी और कभी न पूर्ण होने वाली कविताओ की। 'एक सतत जागरूक कलाकार' की हैसियत से काव्य रचना के तीन क्षणो का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध अपनी डायरी मे लिखते है ''कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव–क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलो से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैण्टैसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैण्टैसी अपनी ऑखो के सामने ही खडी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैण्टैसी के शब्द होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।''[71] रामविलाश शर्मा मुक्तिबोध के फैण्टैसी के अत्यधिक मोह के कारण ही यह मानते है कि वे यथार्थ को फैण्टैसी मे बदले बिना ही उसे नही पकड पाते। मुक्तिबोध ने स्वयं स्वीकार भी किया

है कि ''फैण्टैसी मे सवेदनात्मक ज्ञानात्मक सवेदनाए रहती है। कृतिकार को लगातार महसूस होता रहता है कि उसका अनुभव सभी के लिए महत्वपूर्ण और मूल्यवान है।''[72] मुक्तिबोध ने 'एक साहित्यिक की डायरी' मे कविता के बजाय 'कवि–व्यक्तित्व' पर अधिक जोर दिया है, रचना के बजाय 'रचना प्रक्रिया' को समझना जरूरी माना है। मुक्तिबोध ने जो विचार एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्म संघर्ष और नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र मे व्यक्त किये है वे मूलत रचना और समीक्षा के द्वन्द्व पर आधारित है। इस द्वन्द्व का सर्वश्रेष्ठ रूप एक साहित्यिक की डायरी है। डा० नामवर सिह के अनुसार ''प्लेटो के डायलाग' को छोडकर मुझे याद नही कि मैने इस तरह कही हिस्सा लेने की विवेचना का सुखद अनुभव किया हो। लगातार प्रहार करते हुए आतमीयता का वैसा ही सम्मोहन और वैसा ही दुर्निवार निमन्त्रण विचार–प्रक्रिया मे स्वत भाग लेने का। दूसरे से प्रश्न करने के साथ–साथ अपने–आप उस प्रश्न का वैसा ही वार।''[73]

डॉ० निर्मला जैन ने मुक्तिबोध के आलोचनात्मक व्यक्तित्व को महत्वपूर्ण मानते हुए लिखा है कि ''उनके सारे आलोचनात्मक कृतित्व को देखते हुए निस्सदेह कहा जा सकता है कि नये प्रगतिशील कवि–आलोचको मे वे सब से प्रखर और गम्भीर आलोचक थे। किसी कवि मे आलोचना की ऐसी चिन्तन शक्ति दुर्लभ है।''[74] नि सदेह मुक्तिबोध हिन्दी आलोचना के 'सभ्यता–समीक्षक' है और अपनी 'विश्व दृष्टि' से उन्होने हिदी आलोचना को सवेदनात्मक ज्ञान से परिपूर्ण किया है।

नामवर सिंह

'हिन्दी आलोचना' मे नामवर सिंह का स्थान अप्रतिम है। नामवर सिह का हिदी आलोचना' मे पहला प्रयास 'छायावाद' को लेकर है। पर इनका सबसे महत्वपूर्ण कार्य अपने सम–सामयिक काव्यधारा 'नयी कविता' को लेकर है। महत्वपूर्ण बात यह थी कि नामवर सिह के पहले हिदी आलोचना में 'नयी कविता' पर जो विचार–विमर्श हो रहा था वह एक तरह का एकागी विचार–विमर्श था। प्रगतिशील आलोचको ने इस काव्यधारा को लगभग खारिज सा कर दिया था। 'नयी कविता' को स्थापित करने के प्रयास मे 'नयी कविता' धारा के कवियो ने स्वय ही पहल की। परिणाम

स्वरूप छायावादी कवियो की आलोचना जैसी 'पुनरावृत्ति' सी होने लगी। नामवर सिह ने हस्तक्षेप करते हुए नयी कविता की भाव–भूमि को समझा साथ ही उसका अन्तर अपने पूर्ववर्ती काव्यधारा से दिखाया, और उसे अज्ञेय सचालित न मानकर 'मुक्तिबोध' केन्द्रित बताया। आलोचकीय दृष्टि के विकास मे नामवर सिह ने न केवल अपने सहयोगियो के विचारो का उपयोग किया बल्कि अपने वैचारिक–विरोधियो के विचारो का भी यथासंभव उपयोग किया। जिससे नामवर सिह की आलोचना दृष्टि इतनी पैनी हो गयी कि हिन्दी आलोचना मे पिछले पचास वर्षों मे उनके तईं कोई 'आलोचकीय व्यक्तित्व' नही दिखाई देता है। एक और महत्वपूर्ण कार्य नामवर सिह का कहानी विषयक आलोचना रही है। हिदी आलोचना मे 'कथा साहित्य' की आलोचना की परिपाटी नामवर पूर्व कोई स्वस्थ स्थिति मे नही थी। लेकिन नामवर सिह ने इस कार्य मे प्रवेश कर उसे महत्ता दिलायी।

वैसे तो नामवर सिह की कायदे से 'छायावाद' (1955) पहली आलोचनात्मक पुस्तक है। लेकिन उनके आलोचकीय क्षमता की झलक उनके शोध–प्रबन्ध 'हिदी के विकास मे अपभ्रश का योग' मे ही मिलने लगती है। डा० विश्वनाथ त्रिपाठी ने नामवर सिह के प्रारम्भिक शोध परक कार्यों को आलोचना की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए लिखा है कि "हिन्दी की नव्यतम रचनाओ के आलोचक डॉ० नामवर सिंह ने अपना आलोचक जीवन 'हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग' से शुरू किया था। इसके अलावा उन्होने प० हजारी प्रसाद द्विवेदी के साथ सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो का सम्पादन किया है। तेस्सोतेरी के प्रसिद्ध भाषा शास्त्रीय ग्रन्थ 'प्राचीन राजस्थानी' का हिन्दी मे अनुवाद किया है। ब्रेख्त और एफ०आर० लिविस के परम प्रशसक नामवर सिंह ने अपना शोध–निबन्ध पृथ्वीराज रासो की भाषा पर लिखा है।"[75] 'हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग' के शोध प्रबन्ध होने के कारण विचार–विश्लेषण का मौका कम मिला है, लेकिन जहॉ भी मिला है वहा पर बडी ही सहृदयता से विचार–विश्लेषण किया गया है। आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को 'वीरगाथा काल' नाम दिया था क्योकि इस काल की प्रवृत्ति 'वीरगाथा' की रही है। नामवर सिह ने वीरगाथाओ को 'क्षीयमाण मनोवृत्ति' का प्रतिबिम्ब माना है। नामवर सिह के शब्दो मे "आचार्य शुक्ल जैसे रस–सिद्ध सहृदय समीक्षक ने जब 'रासो' ग्रन्थो को सच्ची वीरगाथा के रूप मे

निरूपित किया तो इसे आचार्य की सहृदयता का अतिरिक्त आरोहण ही समझना चाहिए। उन्हे यदि इन काव्यो मे मध्ययुगीन युरोप के बैलेड काव्य की झलक दिखाई पडी तो इसे उनके अतीत–प्रेम का प्रमाण पत्र मानना चाहिए।"[76] वस्तुत नामवर सिह को रासो ग्रन्थो मे कही–कही सामन्तो के शौर्य का सुन्दर प्रदर्शन और उनकी रसिकता का मार्मिक वर्णन तो मिलता है तो लेकिन उसका कोई सम्बन्ध जनता से नही देख पाते। नामवर सिह का कहना है कि "ऐसी वीरगाथाओ को तत्कालीन जनता की चित्तवृत्ति का प्रतिफलन कैसे स्वीकार किया जाय जबकि बख्तियार खलजी ने केवल सौ घोडो से समूचे अग–बग के राजाओ को एक लपेट मे सर कर लिया और जनता के कानो पर जूॅ नही रेगी। जाहिर है कि सामान्य जनता की भावना का उन सामन्ती वीरगाथाओ से कोई मतलब नही था।"[77]

'छायावाद' पर उनका विचार–विमर्श इसी दृष्टिकोण को आगे बढाने का उपक्रम है। 'भूमिका' का प्रारम्भिक वाक्य है "यह निबध छायावाद की काव्यगत विशेषताओ को स्पष्ट करते हुए छाया–चित्रो मे निहित सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन करने के लिए लिखा है।" इस पुस्तक मे नामवर सिह ने छायावादी कविताओ की पक्तियो के आधार पर शीर्षको का नाम रखा है। पहले अध्याय 'प्रथम रश्मि' मे नामवर सिह ने अपने पूर्व के लगभग सभी आलोचको की 'छायावाद' सम्बन्धी परिभाषाओ का उल्लेख किया है लेकिन अपनी तरफ से उन्होंने कोई परिभाषा नही दी है क्योकि "छायावाद की मनमानी परिभाषा करने की अपेक्षा उसके ऐतिहासिक और व्यवहारिक अर्थ को स्वीकार करना अधिक वैज्ञानिक है।"[78] नामवर सिह को 'छायावाद' मे अनेक प्रवृत्तियो का सयोग दिखाई दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद और स्वच्छन्दवाद को अलग–अलग माना है। नन्द दुलारे वाजपेयी ने तो शुक्ल जी की ही तरह 'अध्यात्मिक छाया' को स्वीकार किया लेकिन फर्क यह था कि वाजपेयी जी को उसमे 'धार्मिक स्थूलता' का तत्व नही मिलता, नगेन्द्र तो स्थूल के विरूद्ध सूक्ष्म का विद्रोह स्वीकार करते ही रहे है, पर नामवर सिंह एक ही काव्यधारा को खण्ड–खण्ड बॉटकर देखने के हिमायती नही है। "परन्तु जब युग विशेष की काव्यधारा के सबध मे इन शब्दो पर विचार किया जाता है तो रहस्यवाद, छायावाद और स्वछन्दतावाद तीनो एक ही काव्यधारा की विविध प्रवृत्तिया मालूम होती है।"[79]

पर तीनो प्रवृत्तियॉ एक नही है "जहॉ तक रहस्यवाद, छायावाद और स्वछन्दतावाद शब्दो के शब्दार्थ और लोक–प्रचलित भाव का सम्बन्ध है इन तीनो मे नि.सदेह थोडा अतर है। रहस्यवाद अज्ञात की जिज्ञासा है, तो छायावाद चित्रण की सूक्ष्मता और स्वछन्दतावाद प्राचीन रूढियो से मुक्ति की आकाक्षा।"[80]

द्विवेदी युगीन व्यैक्तिक, सामाजिक दृष्टिकोण को छायावाद ने 'व्यैक्तिकता' के स्तर पर घुला लिया। 'मैने मे शैली अपनाई' कहकर निराला ने अपने पूर्ववर्ती काव्य शैलीयो का निषेध सा कर दिया। पत ने उच्छ्वास, ऑसू की बालिका से सीधे ही प्रणय निवेदन किया। आत्मकथात्मक शैली से लिखी हिन्दी कविता की अब तक की सर्वश्रेष्ठ 'शोक गीत' 'सरोज–समृति' एक तरह से निराला की आत्मकथा ही है। छायावादी आत्मकथात्मक प्रवृत्तियो का कारण नामवर सिंह के शब्दों मे यह रही है कि "आत्माभिव्यक्ति की भावना इस युग मे कितनी व्याप्त है, इसका पता इसी से चलता है कि 'आत्मकथा' लिखने की परम्परा सी चल पडी। गॉधी, नेहरू, रवीन्द्रनाथ, श्रद्धानन्द, श्याम सुन्दरदास, वियोगीहरि, राहुल साकृत्यायन आदि न जाने कितने राजनीतिज्ञो, धर्मसुधारको और साहित्यकारो ने अपनी आत्मकथा अथवा 'जीवन स्मृति' लिखी है।"[81] और "ये आत्मकथाए इस युग मे प्रचलित वैयक्तिक आत्माभिव्यक्ति की आकाक्षा की द्योतक है।"[82] इसकी परिणति यह रही कि "छायावादी कविता का आरभ इसी व्यक्तिगत भावना से हुआ है।"[83] नगेन्द्र ने छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह माना है और नामवर सिह भी लगभग इसी बात को स्वीकार करते हुए कहते है कि "पल्लव की भूमिका मे पत ने ब्रजभाषा का जो इतना उग्र विरोध किया था यह केवल भाषा का विरोध नही था। ब्रजभाषा के साथ ही वे ब्रजभाषा के रीतिकाव्य की तथा उसके समर्थक रूढिरक्षक पडितो का विरोध कर रहे थे। वस्तुत उस युग मे जो ब्रजभाषा और खडी बोली का सघर्ष हुआ वह प्राचीन सकीर्णता और आधुनिक विशालता का सघर्ष था।"[84]

छायावादी कवियो की स्वतन्त्रता की मॉग का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होने न केवल व्यक्ति के मन की स्वतन्त्रता की बात कही बल्कि प्रकृति की स्वतन्त्रता का भी आग्रह किया। और इस स्वतन्त्रता की माग के पीछे 'भारतीय समाज' की स्वतन्त्रता की माग थी। नामवर सिह के अनुसार "छायावादी कवि ने

जिस प्रकार प्रकृति को मुक्त किया उसी प्रकार नारी को भी। समाज मे नारी–मुक्ति का जो आन्दोलन नारी–शिक्षा, विधवा–विवाह के रूप मे आया वही छायावादी कविता मे देवि,मॉ,सहचरि प्राण' के रूप मे प्रकट हुआ। रीतिकालीन कविता मे 'नारी' नायिका थी उसके व्यक्तित्व की सम्पुर्णता आवृत थी। छायावादी कविता मे नारी, देवि, मॉ, सहचरि, प्राण सभी कुछ हुई।'[85] नारी की स्थिति छायावाद मे चाहे जितनी बदल सी गयी हो, युगीन दबाव से मुक्ति का चाहे जितना प्रयास किया गया हो, छायावादी कवि चाहे जितना प्रणय गीत रचते–गाते रहे हो, लेकिन नारी का सबसे सर्जनात्मक–कार्यशील रूप 'पत्नी' का स्वीकार छायावादी कविता मे नही दिखाई पडता । इसका क्या कारण था? नामवर सिह के अनुसार छायावादी नारी विद्रोह मानसिक, काल्पनिक अधिक रहा है "यही वजह है कि छायावादी कवि के लिए पत्नी सदैव 'भावी' ही रही, वह वर्तमान न हो सकी।"[86] नामवर सिह ने अपने विवेचन से एक महत्वपूर्ण कार्य छायावाद के विषय मे यह किया कि अपने पूर्ववर्ती आलाचकों की आलोचना को और अधिक महत्वपूर्ण बना दिया। नन्द दुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि आलोचको ने छायावाद को राष्ट्रीय चेतना से जोडकर देखा था लेकिन उसका सम्यक निरूपण नही किया था। नामवर सिह ने इस कार्य को प्रमाणिक और तर्क सम्मत दृष्टि से किया। कुल मिलाकर छायावादी काव्यधारा का महत्व प्रतिपादित करते हुए नामवर सिह कहते है कि "इस तरह छायावाद हमारी विशेषता सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकता से पैदा हुआ और उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसने ऐतिहासिक कार्य किया। समाज और साहित्य को उसने जिस तरह पुरानी रूढियो से मुक्त किया, उसी तरह आधुनिक राष्ट्रीय और मानवतावादी भावनाओ की ओर भी प्रेरित किया।"[87] साथ ही "छायावाद वस्तुत एक व्यापक जीवन–दृष्टि थी जिसकी अभिव्यक्ति सामान्य रूप से कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, आलोचना आदि सभी माध्यमो से हुई परन्तु भावात्मकता के कारण उसकी विशेष अभिव्यक्ति सामान्यरूप से कविता मे ही हो सकी और उसी मे उसे प्रधानता भी मिली।"[88] 'आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ' मे नामवर सिह ने छायावाद और रहस्यवाद को अलग–अलग खण्डों मे बॉटकर विवेचित किया, जबकि 'छायावाद' मे नामवर सिह इसे छायावादी कविता का अग मान चुके थे। प्रवृत्तियो के विवेचन का कारण नामवर सिह ने 'इतिहास–सम्मत' माना है। सन् 60 के

आस–पास तक हिन्दी मे कई तरह की प्रवृत्तिया उभर रही थी। कुछ मर गयी थी, कुछ मरने वली थी और कुछ जन्म के करीब थी। पर नामवर सिह ने इन सभी प्रवृत्तियो को महत्वपूर्ण नही माना। क्योकि "आधुनिक साहित्य मे छायावाद ,रहस्यवाद, प्रगतिवाद एव प्रयोगवाद चार ही प्रवृत्तियॉ निश्चित रूप से इतिहास सम्मत है जिन्हे 'वाद' के रूप मे प्रचलन की मान्यता प्राप्त है।"[89]

नामवर सिह ने साहित्य मे होने वाले परिवर्तित कारको को हमेशा उसके 'देश–काल' मे खोजा। राजनीतिक परिवर्तन का समाज से और समाज का साहित्य से सम्बन्ध बराबर बना रहता है। जब जब साहित्य का सम्बन्ध समाज से टूटता है या कमजोर होता है तब–तब साहित्य मे जीवन्तता, उर्जस्विता का अभाव होने लगता है। 'छायावाद' की परिणति प्रगतिवाद मे हुई उसका कारण भी यही था। नामवर सिह कहते है कि ""छायावाद का पर्यवसान प्रगतिवाद मे होना था बिल्कुल उसी तरह जैसे व्यक्तिवाद का समाजवाद मे होना है। स्वातत्र्य व्यक्तिवादिता से नही प्राप्त हो सकता। छायावाद की दिक्कत यह थी कि छायावाद का सारा स्वातंत्र्य सघर्ष अकेले व्यक्ति का था, और सगठित सामाजिक शक्ति के विरूद्ध अकेले–अकेले लडने का यही परिणाम होता है।"[90]

'प्रगतिवाद' और 'प्रगतिशील साहित्य' को अलगाकर देखने की चेष्टा हिन्दी मे सन् 40 के आस–पास से ही चलन मे थी। इसके मूल मे प्रेमचन्द्र का वह अध्यक्षीय कथन था कि 'प्रगतिशील' शब्द झूठा है क्योकि लेखक स्वय प्रगतिशील होता है। नामवर सिह ने प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य को अलग-न मानकर एक ही माना। नामवर सिंह के शब्दो मे "जिस तरह छायावादी कवियो में एक को अधिक छायावादी तथा दूसरे को कम छायावादी अथवा एक को शुद्ध छायावादी तथा औरो को मिश्रित कहने का जोर–शोर रहा, उसी तरह प्रगतिवाद मे भी किसी को शुद्ध प्रगतिवादी अथवा अधिक प्रगतिवादी और दूसरो को कम प्रगतिवादी कहने की हवा है। लेकिन इस वाद विवाद के कारण यदि छायावाद मे भेद नही किया गया तो प्रगतिवाद मे भी भेद करने की जरूरत नहीं है।"[91] प्रगतिवादी साहित्य की दृष्टि कैसी है ? "जिस तरह कल्पना प्रवण अतर्दृष्टि छायावाद की विशेषता है और अन्तर्मुखी बौद्धिक दृष्टि प्रयोगवाद की उसी तरह सामाजिक यथार्थ दृष्टि प्रगतिवादी की

विशेषता है।"[92] सामाजिक यथार्थ–दृष्टि' का कारण था? "सामान्य लोगों के जीवन मे राजनीति का तथा राजनीति मे सामान्य लोगो का ऐसा प्रवेश पहली बार हुआ था। इससे पहले राजनीति केवल बडे लोगो की चीज थी। लेकिन जन तान्त्रिक परिस्थिति के आने से अब हवा बदल गयी।"[93]

प्रगतिवाद के बाद हिन्दी कविता की धारा मे प्रयोगवाद का चलन हुआ। वस्तुत इसकी पृष्ठभूमि मे तारसप्तक (43ई0) का प्रकाशन है जहॉ 'प्रयोग' को एक प्रवृत्ति के रूप मे देखा गया। नामवर सिह के अनुसार "'प्रयोगवाद' नाम चलने का कारण 'तार–सप्तक' के सपादकीय तथा कुछ अन्य वक्तव्य है। इस सज्ञा के बीज वही है। उनमे 'प्रयोग' और प्रयोगशीलता को साफ शब्दो मे अपनी विशेषता कहा गया है।"[94] अज्ञेय ने अपने लेखकीय वक्तव्य मे लिखा है "जो व्यक्ति का अनुभूति है, उसे समाष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता मे पहुॅचाया जाये–यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता को ललकारती है।"[95] जब अनुभूति को समष्टि तक पहुॅचाना ही समस्या हो जाय तो स्वाभाविक है इसके पूर्व तक कविता की जो पद्धति है उससे कुछ अलग प्रयास हो। इस प्रयास को 'कला' के अन्तर्गत माना जाने लगा। परिणामस्वरूप प्रयोगवाद 'रूपवाद' का पर्यायवाची समझा जाने लगा। नामवर सिह ने इसका विरोध करते हुए लिखा है कि "'प्रयोगवाद' कोरे रूपवाद से अधिक व्यापक प्रवृत्ति तथा विचार–धारा का वाहक है जिसमे थोडे–थोडे से अन्तर के साथ अनेक हास्रोन्मुखी मध्यवर्गीय मनोवृत्तियो और विचार धाराओ का समावेश हो गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद उत्तर–छायावाद की समाज विरोधी अतिशया व्यक्तिवादी मनोवृत्ति का ही बढावा है।"[96] पर इस काव्यधारा का महत्व इस बात को लेकर है कि "इनमें मध्यवर्गीय हीनता, दीनता, अनास्था, कटुता, अंतमुर्खता पलायन आदि का बडा ही मार्मिक चित्रण हुआ है।"[97]

नयी कविता के दौर मे नयी कविता के कवियो को उसी तरह का सामना करना पड रहा था जिस तरह छायावाद के कवियो ने किया था। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इसीलिए 'नयी कविता के प्रतिमान' मे एक नवीन आलोचना दृष्टि की मांग की और उसका सैद्धान्तिक रूप प्रवर्तित किया, लेकिन विजय देव नारायण साही ने इसका विरोध करते हुए कहा कि "समूची नयी कविता को ठीक–ठीक देखेने के लिए नयी

कविता के प्रतिमान की जरूरत नही बल्कि कविता के नये प्रतिमानो की जरूरत है।"[98] नामवर सिह ने साही के विचारो से सहमति जताते हुए "कविता के नये प्रतिमान" मे नये प्रतिमानो की खोज की। नामवर सिंह का मानना है कि "कविता के नये प्रतिमान के केन्द्र मे मुक्तिबोध है।"[99] साथ ही "इस पुस्तक का आधार यह धारणा है कि नयी कविता मे मुक्तिबोध की स्थिति वही है जो छायावाद मे निराला की थी। निराला के समान ही मुक्तिबोध ने भी अपने युग के सामान्य काव्यमूल्यो को प्रतिफलित करने के साथ ही उनकी सीमा को चुनौती देकर उस सार्वजनिक विशिष्टता को चरितार्थ किया जिससे समकालीन काव्य का सही मूल्याकन सम्भव हो सका।"[100]

नामवर सिह ने मुक्तिबोध की कविता को ही नही बल्कि उनकी 'आलोचना' को भी अपना विवेच्य बनाया है। वैसे 'साही' को उनका कट्टर वैचारिक प्रतिद्वन्दी माना जाता रहा है लेकिन नामवर सिह ने 'साही' के विचारो को और अधिक विस्तार देकर 'नयी कविता' के प्रति या कम से कम मुक्तिबोध के प्रति समझ बढाने का एक सफल और महत्वपूर्ण कार्य किया है।

नामवर सिह की कविता सम्बन्धी आलोचना दृष्टि में जो सबसे महत्वपूर्ण बात रही है वह यह कि उनका कवि रचनाकार 'व्यक्तित्व' बराबर उनकी आलोचना मे स्थान पाता गया है। इस व्यक्ति तत्व से नामवर सिह कभी मुक्त नही हो पाये है। वैसे कविता तो शुक्लजी ने भी लिखी है, हजारी प्रसाद द्विवेदी में भी काव्यगत सस्कार थे लेकिन इन आलोचको ने कभी भी अपने–आलोचकीय व्यक्तित्व मे कवि व्यक्तित्व को घुलने का मौका नही दिया। राम विलास शर्मा की आलोचना और कविता दोनो महत्वपूर्ण है। लेकिन शर्मा जी ने अपने को काफी श्रम इससे मुक्त किया । नामवर सिह ऐसा नही कर पाये इसी कारण कही–कही उन पर 'रूपवाद' का प्रभाव दिखाई पड जाता है।

नामवर सिह का सबसे महत्वपूर्ण सर्जनात्मक लेकिन विवादास्पद योगदान रहा है कहानी समीक्षा। नामवर सिह के पहले हिदी आलोचना मे कविता वादी स्वर ही प्रमुख रहा। लेकिन नामवर सिह ने 'कहानियो' की समीक्षा प्रारम्भ कर के कथा

समीक्षा को न सिर्फ नवजीवन दिया बल्कि उसे प्रतिष्ठित भी किया। यद्यपि इस कार्य के लिए नामवरसिह को व्यक्तिगत स्तर पर बहुत ही आलोचना झेलनी पडी। नामवर सिह स्वयं स्वीकार करते है "यह कहानी चर्चा कुछ काव्य समीक्षको को पसन्द नही आई उन्हे इस बात का ऐतराज था कि हिन्दी मे कहानी चर्चा को खामखाह इतना तूल दिया जा रहा है। उनकी नजर मे कहानी इस लायक है ही नहीं कि उसे गम्भीर समीक्षा का विषय बनाया जाए। हो सकता है इस प्रकार का पूर्वाग्रह बहुतो के मन मे हो। कहानी समीक्षा की दिशा मे कदम उठाने से पहले शायद इस प्रकार की दुविधा कुछ–कुछ अपने मन मे भी थी।"[101] हिन्दी आलोचना को समृद्ध करने का प्रयास है कहानी समीक्षा। "हिदी आलोचना जो अभी तक मुख्यत काव्य समीक्षा रही है, कविता से इतर कथा–नाटक आदि साहित्य रूपो का विधिवत विश्लेषण करके ही अपने को सुसगत एव समृद्ध बना सकती है। कहानी समीक्षा सबधी ये निबंध इसी दिशा मे विनम्र प्रयास है।"[102] नामवर सिह ने अपने विश्लेषण मे न केवल कहानी और 'नई कहानी' मे अन्तर को स्पष्ट किया है बल्कि प्रेमचन्द्र या उनके समकालीन कहानीकारो के बाद के कहानीकारो के बदलते शिल्प को भी रेखाकित किया। पर सबसे क्रान्तिकारी लेकिन उतना ही विवादास्पद कार्य रहा है 'निर्मल वर्मा' को नई कहानी का प्रथम कहानीकार मानना। वस्तुत नामवर सिह ने 'परिन्दे' को लेकर जो विश्लेषण किया है उससे उनके ही 'सहयोगी वाद' के आलोचको ने आपत्ति उठाई। नामवर सिह 'परिन्दे' की लतिका के इस प्रश्न को कि "क्या वे सब प्रतीक्षा कर रहे है? लेकिन कहॉ के लिए हम कहॉ जायेगे।"[103] को समूचे युग बोध का प्रश्न मान लिया कि हम कहॉ जायेगे?। परिन्दे की लतिका का प्रश्न 'कहॉ जाने का न होकर उसकी स्वतन्त्रता का प्रश्न हो जाता है। नामवर सिंह के अनुसार "एक तरह से देखा जाय तो परिन्दे की लतिका की समस्या स्वतन्त्रता या मुक्ति की समस्या है। अतीत से मुक्ति, स्मृति से मुक्ति, उस चीज से मुक्ति जो हमे चलाए चलती है और अपने रेले मे हमे घसीट ले जाती है।"[104] नामवर सिह की कहानी समीक्षा के प्रतिमानो को लेकर हिदी जगत मे एक तूफान सा उठ खडा हुआ। बहुत से आलोचकों ने इसे कविता के प्रतिमानो के आधार पर कहानी समीक्षा माना। पर सबसे ज्यादा विवाद निर्मल वर्मा को लेकर उठा। कारण की वर्मा की कहानियो मे भारत एक स्मृति के रूप मे आता

है, यूरोप उसका देश–काल लगता है। लेकिन नामवर सिंह ने 'कहानी' को सकुचित भूमि मे न देखकर उसमे बदलते मूल्यो को परखने का प्रयास किया। नामवर सिह की कहानी समीक्षा का प्रभाव यह रहा है 'कहानी' स्वतन्त्रता के बाद की सबसे महत्वपूर्ण विधा हो गई। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, मार्कण्डेय, फणीश्वरनाथ रेणु, शिव प्रसाद सिह आदि अनेक कथाकारो का आर्विभाव हुआ। साथ ही कथा आलोचना के क्षेत्र मे भी इसका दूरगामी प्रभाव पडा। देवी शकर अवस्थी, सुरेन्द्र चौधरी, विजय मोहन, रमेशचन्द्र शाह, विश्वनाथ त्रिपाठी के साथ–साथ परमानन्द श्रीवास्तव आदि ऐसे आलोचक है जिन्होने नामवर सिह के अन्तर्विरोधी को दूर करने का प्रयास किया है साथ ही 'कहानी समीक्षा' को महत्वपूर्ण बनाने मे भी योगदान दिया है।

काव्य, कहानी समीक्षा के अलावा नामवर सिह ने 'इतिहास और परम्परा' मे इतिहास पर अपने आलोचनात्मक मानदण्ड 'मार्क्सवाद' की दृष्टि से विचार–विमर्श किया है। नामवर सिह की आलोचना प्रक्रिया का सबसे बडा तत्व समकालीन युग बोध है। नामवर सिह ने हमेशा लेखक और आलोचक की 'इतिहास–दृष्टि' को महत्वपूर्ण माना है। यह इतिहास दृष्टि कैसी हो ? "नैरन्तर्य में कालातर देखना और कालातर मे नैरतर्य देखना और उसका निर्वाह करना।"[105] 'इतिहास और परम्परा' मे सकलित निबन्धो "इतिहास का नया दृष्टिकोण" और "हिदी साहित्य के इतिहास पर पुनर्विचार" मे नामवर सिह ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। इन लेखो का महत्व कितना है इस बात का प्रमाण डॉ0 निर्मला जैन का यह कथन है कि "इन निबन्धो के माध्यम से लेखक ने मूल्याकन परक आलोचना और साहित्यिक इतिहास के बीच सम्बन्ध स्थापना की है। ये लेख इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण है कि इनमे साहित्य के इतिहास लेखन की एक नयी दिशा का स्पष्ट निर्देश किया गया है।"[106] कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'कविता के प्रतिमान' मे अगर कविता के आलोचनात्मक प्रतिमानो की खोज है तो 'कहानी नयी कहानी' मे कथा समीक्षा के और 'इतिहास और परम्परा' मे इतिहास लेखन के प्रतिमानो की खोज है।

नामवर सिंह की आलोचना–दृष्टि हमेशा 'खोज' करती रहती है इसी खोजी प्रवृत्ति का सुपरिणाम है 'दूसरी परम्परा की खोज'। इस लघु पुस्तिका मे मूलत.

हजारी प्रसाद द्विवेदी के कृतियो की न आलोचना है और न ही मूल्याकन का प्रयास। "अगर कुछ है तो बदल देने वाली उस दृष्टि के उन्मेष की खोज जिसमे एक तेजस्वी परम्परा बिजली की तरह कौध गयी थी।"[107] और यही तेजस्वी परम्परा' द्वन्द्ववादी परम्परा की जनक थी हजारी प्रसाद द्विवेदी बनाम रामचन्द्र शुक्ल। निर्मला जैन के अनुसार "दूसरी परम्परा की खोज' का महत्व इस बात मे है कि उसमे कुछ ऐसी अवधारणाओ के परम्परागत मूल का प्रश्न उठाया गया है जिन्हे बडी सुविधा से पश्चिम की देन स्वीकार कर उनके पारम्परिक मूल विशेष आग्रहो के तहत खोज कर निश्चित कर दिये गये सौन्दर्य की अवधारणा और सौन्दर्यबोध का पारम्परिक विकास ऐसा ही प्रश्न है। भारतीय सस्कृति की विशुद्धता का सवाल भी ऐसा ही बहस तलब सवाल है जिस पर बराबर विचार होता रहा है। इसे हिन्दी के दो आलोचको की टकराहट का रूप देना मूल प्रश्न से मुँह चुराना है।"[108]

नामवर सिह का आलोचकीय जीवन वस्तुत वाद–विवाद का केन्द्र रहा है। 'वाद–विवाद–सवाद' मे नामवर सिह ने इसे किसी न किसी विशिष्ट सन्दर्भ से सम्बन्धित देखा। 'विश्वविद्यालय मे हिन्दी' और 'मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र के विकास दिशा' लेख से नामवर की आलोचना का मूल प्रस्थान बिन्दु उभरकर सामने आता है।

नामवर सिह ने हिदी आलोचना को जितना लिखकर समृद्ध किया उससे कही अधिक आम जनता से सीधा साक्षात्कार कर–बोलकर। यद्यपि वक्ता होने के कारण उनकी आलोचकीय समझ अवश्य समृद्ध होती है लेकिन आलोचना की लिखित परिपाटी को उतना नही मिल पाता जितना उसका हक है। दूसरी परम्परा की खोज करने वाले आलोचक की क्या यह तीसरी परम्परा है? और इस परम्परा को इतिहास बद्ध करना है तो कबीर की कविता जो अपने समय के समाज की आलोचना ही करती है – की परम्परा भी तो यही 'वक्ता' की रही है। नामवर सिंह का कहना है कि "इतिहास विधाता का निर्णय निर्मम हुआ करता है",[109] इसी निर्मम निर्णय का जब इतिहास लिखा जायेगा तो नामवर सिह को तीसरा परम्परा का वाहक स्वीकार किया जायेगा।

नामवर सिह की शैली हमेशा सवादात्मक रही है। दृष्टि हमेशा सामाजिक और विवेक मार्क्सवादी दृष्टि से जॉचा परखा। लेकिन कही–कही विदेशी लेखको के अतिशय उद्धरण से उनकी आलोचना विदेशी अधिक लगने लगती है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने इस बात को लक्षित करते हुए लिखा है कि "अब कोई नामवर जी से पूछे कि वे अपने भाषणो और लेखो मे बार–बार मार्क्स, लुकाच, वाल्टर बेजामिन, एफ० आर० लीविस आदि की मुहर क्यो लगाते है?"[110]

इन कमियो या अन्तर्विरोधो के बावजूद हिदी आलोचना मे नामवर सिह का महत्वपूर्ण अवदान है। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार "इसमे सन्देह नही कि हिन्दी आलोचना मे नामवर सिह का सबसे महत्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होने आलोचनात्मक विमर्श का दायरा विस्तृत किया और आलोचना को एक हद तक सामाजिक हस्तक्षेप का सा दर्जा दिया। हिन्दी मे एक अकेले वे ही है, जिनकी आवाज दूर–दूर तक सुनी जाती है। वे ही है जिन पर ज्यादा भरोसा किया जाता है। इसके बावजूद कि सबसे अधिक सदेह या शक के दायरे मे वे ही है।"[111]

(ख) प्रयोगवादी कवि-आलोचक :

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' मूलत कृतिकार है। आलोचक के बजाय उन्हे चिन्तक अधिक माना जा सकता है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "जिस सीमित अर्थ मे आलोचक' शब्द का इस्तेमाल प्राय किया जाता है उस अर्थ में अज्ञेय आलोचक नही है, बल्कि उनके लिए आलोचक से ज्यादा उपयुक्त शब्द होगा विचारक या चिन्तक।"[112]

विशुद्ध आलोचक न होने के बावजूद अज्ञेय का महत्व हिंदी आलोचना मे इस लिए है कि जिस तरह छायावादी कवियो ने अपनी कविताओ की भाव–भूमि को समझाने के लिए अपने विचार रखे, आलोचनाएं लिखी, उससे कही अधिक अज्ञेय ने 'नयी कविता' के लिए नयी आलोचना की भूमि तैयार की। 'नयी कविता' के साथ खासकर प्रगतिवादी विचारधारा के आलोचको ने न्याय नही किया था। अज्ञेय ने इस

बात को लक्षित करते हुए 'तीसरा सप्तक' की भूमिका मे लिखा है कि "नयी कविता का अपने पाठक और स्वय के प्रति उत्तरदायित्व बढ गया है। यह मानकर कि शास्त्रीय आलोचको से उसे सहानुभूति पूर्ण तो क्या पूर्वाग्रह रहित अध्ययन भी नही मिला है, यह आवश्यक हो गया है कि स्वय आलोचक तटस्थ और निर्मम भाव से उसका परीक्षण करे। दूसरे शब्दो मे परिस्थिति की मॉग यह है कि कविगण स्वय एक दूसरे के आलोचक बनकर सामने आएँ।"[113] अज्ञेय ने अपने उपर्युक्त कथन को स्वय के लिए एक 'कसौटी' माना। रचना के साथ आलोचना को आवश्यक मानने वाले अज्ञेय ने अपनी कविताओ की व्याख्याके साथ–साथ अपने समकालीन कवियो की रचनाओ को भी अपने आलोचकीय विवेक से जॉचा–परखा।

टी०एस० इलियट का प्रभाव हिदी मे मुख्यतया तीन समीक्षको पर अधिक पडा है। डा० गिरिजाराय के अनुसार "टी०एस० इलियट के विचारों से शुक्लोत्तर युग के तीन समीक्षक डा० देवराज, अज्ञेय, मुक्तिबोध बहुत गहरे स्तर पर प्रभावित रहे हैं। यह दूसरी बात है कि तीनो ने इलियट के प्रभाव को अलग–अलग ढग से ग्रहण किया है। देवराज मे यह प्रभाव क्लैसिक्स के प्रति आग्रह और सास्कृतिक चिता के रूप मे, अज्ञेय मे निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त के रूप मे तथा मुक्तिबोध मे गैर रूमानियत के प्रबल पक्षधर के रूप में प्रकट होता है।''[114] इलियट के निर्वैयक्तिकता के सिद्धान्त को अज्ञेय ने 'रचना और अह' के विलयन के रूप में स्वीकार किया। अज्ञेय के ऊपर इलियट के अतिरिक्त मनोविश्लेषक एडलर का भी प्रभाव रहा है। रामदरश मिश्र के अनुसार एडलर का मानना था कि ''व्यक्ति संसार मे कमजोर महत्वहीन और असहाय रूप मे आता है। प्रकृति के साथ लडने मे वह असमर्थ होता है और वह भोजन, वस्त्र तथा शरण के लिए अपने बडो पर अवलम्बित रहता है। बालक को प्रत्येक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अपने बडो का मुह ताकना पडता है, दूसरी ओर देखता है कि उसके बडो के पास अधिक शक्ति है वे विश्व के प्रति अधिक ज्ञान रखते है और जैसा चाहते है, रहते है। इन सब कारणो से वह बडो की शक्ति से अभिभूत हो उठता है, वह एक हीनता की भावना का अनुभव करने लगता है।''[115] एडलर की 'हीनता की अनुभूति और कला द्वारा उसकी क्षतपूर्ति का प्रभाव अज्ञेय की कला सम्बन्धी परिभाषाओ मे स्पष्ट रूप से मिलता है। जैसे''कला सामजिक

अनुपयोगिता की अनुभूति के विरूद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरूद्ध विद्रोह है।"[116]

अज्ञेय की आलोचना—दृष्टि मे मनुष्य के विवेक और स्वतन्त्रता का प्रश्न अहम लगता है। 'अतरा' मे अज्ञेय कहते है "मै जीना चाहता हूँ, इसका अर्थ मानव के लिए यही है कि मै स्वाधीन रहना चाहता हूँ।"[117] अज्ञेय के लिए व्यक्ति स्वतन्त्रता इतनी महत्वपूर्ण है कि "कोई दार्शनिक या तार्किक पद्धति समाज या राष्ट्र की स्वतन्त्रता को एक चरम मूल्य के रूप मे प्रतिष्ठित नही कर सकती अगर वह व्यक्ति स्वातत्र्य के अपहरण का अनुमोदन करती है।"[118] स्वधीनता के प्रश्न को बार—बार उभारकर अज्ञेय ने एक तरह से विद्रोहात्मक स्थिति पैदा कर दी। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "उनकी 'स्वधीता' को व्यक्तिवाद और समाज विरोधी के रूप मे देखा गया है। क्योकि "स्वाधीनता की सच्ची कसौटी मै नही 'ममेतर' है। वैज्ञानिक की स्वाधीनता सत्य के शोध की स्वाधीनता है किन्तु कलाकार की स्वाधीनता में अनिवार्य या मूल्य के बोध की स्वाधीनता भी शामिल होनी चाहिए। जिसका अर्थ फिर यह हो जाता है कि साहित्यकार ऐसे समाज मे स्वाधीन नही हो सकता, जो समाज स्वाधीन नही है।"[119] अज्ञेय की रचनाओ पर बार—बार 'व्यक्विादी' होने का आरोप लगा है। मूलत. अज्ञेय व्यक्ति और समाज दोनो को बराबर स्थान देते है लेकिन समाज की अपेक्षा व्यक्ति उनके लिए प्रधान होता है। उन्ही के शब्दो मे "मेरा बल इस पर होगा कि मानव कैसे व्यक्तित्व को बनाए रखते हुए समष्टि के कल्याण का प्रयत्न करे क्योकि मानव एक स्वतन्त्र व्यक्ति है इसलिए सामाजिक आचरण की जिम्मेदारी उस पर आ जाती है। . मेरे लिए व्यक्तित्व का विकास सामाजिक जीवन की आधार—भित्ती है। अभिमूल्यो का सस्ताऔर अभिमूल्य ही हो सकते हैं। मानव व्यक्ति ही हो सकता है, होता है, होगा। समाज अभिमूल्यो को स्वीकृति दे सकते है, प्रतिष्ठित कर सकते है उनकी स्मृति नही कर सकते है।"[120]

वस्तुत· अज्ञेय ने 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य' की जो बात बार—बार उठाई है उसका कारण उनके समय का राजनैतिक, सामाजिक वातारण था। विश्वयुद्धो की मार से आम जनता की जो हालत हो गयी थी उसको नजर अन्दाज कर क्रान्ति की बात

करना एक तरह से बेमानी सा हो गया था। दूसरी महत्वपूर्ण बात साहित्य के सन्दर्भ से यह थी कि प्रगतिवाद मे समाज को महत्व अधिक मिला, 'व्यक्ति' का समाज मे विलय सा हो गया। पश्चिम के विचारको से प्रभावित अज्ञेय को यह बात अच्छी नही लगी परिणामस्वरूप उन्होने 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रता की बात बार-बार उठायी। लेखक और पाठक का सम्बन्ध रचनाकार को बराबर उद्वेलित करता है उसी सन्दर्भ मे रचनाकार आलोचक का। अज्ञेय के अनुसार "आलोचना गौण या अपजीवी कर्म भले ही हो, कवि को उसकी आवश्यकता रहती है। आलोचना की अनुपस्थिति मे वह मुर्झाता है, उसकी प्रतिभा मलिन होती है।"[121] अज्ञेय स्वयं इस अनुपस्थिति को दूर करने का प्रयत्न करते है अपने लिए भी, अपने सहयोगियो के लिए, अपने समसामयिक साहित्य के लिए भी, पूर्ववर्ती साहित्य के लिए भी। इसी क्रम मे मैथिली शरण गुप्त का महत्व स्वीकार करते हुए अज्ञेय लिखते है "उन्होने जो चलाया वह चला ही, जो निषेध किया वह छूटा ही, पर उन्होने निषेध नहीं किया केवल स्वय नही बरता, उसको बरतना केवल इतने से कठिन हो गया कि उन्होने उसे नही अपनाया।"[122] इसको प्रमाणित करने के लिए अज्ञेय तर्क देते है "हिन्दी लघु-गुरू सम्बन्धी रियायते तो द्विवेदी काल तक प्रचलित थी जो उर्दू मे आज भी सजीव बनी हुई है, केवल गुप्तजी के द्वारा प्रयुक्त न होने के कारण अप्रचलित हो गयी और आज बरती जाती है तो 'उर्दू' की मानी जाती है।"[123]

'छायावाद' हिन्दी आलोचको के लिए एक पहेली का प्रश्न कर सामने खड़ा होता रहा है। शुक्ल जी से लेकर आज तक के आलोचको ने 'छायावाद' को भिन्न-भिन्न तरीको से विचार का विषय बनाया है। छायावाद की एक सर्वमान्य विशेषता 'व्यक्तिवाद' मानी जाती रही है। "व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता' के हिमायती अज्ञेय छायावाद से कैसे अछूते रहते? छायावाद पर विचार करते समय अज्ञेय ने बडी ही दूरदर्शिता का परिचय दिया है। छायावाद को रौमैटिसिज्म का हिन्दी सस्करण मानने से इकार करते हुए अज्ञेय इसे भारतीय परम्परा की कविता मानते हैं। डॉ० निर्मला जैन के अनुसार "छायावाद को अग्रेजी के रोमाण्टिक दौर का प्रभाव स्वीकार करने वालो को अज्ञेय ने याद दिलाया कि 'यदि छायावादी आन्दोलन की प्रेरणा हिन्दी कवि द्वारा शैली और कीट्स का आविष्कार था, तो यूरोप के रोमाण्टिक आन्दोलन की

प्रेरणा यूरोपीय कवि द्वारा कालिदास का आविष्कार था।'' इस तरह वे हिन्दी पर 'रोमाण्टिक काव्य के प्रभाव मे दूरागत भारतीय प्रतिध्वनि' यूँ भी सिद्ध करते है कि उस काव्य से प्रभावित कवि पुन कालिदास की ओर लौटे। पर यह लौटना महावीर प्रसाद द्विवेदी के लौटने से कुछ अलग किस्म का था। क्योकि यहा भी 'नये परिचय का प्रश्न नही था, नयी दृष्टि का ही प्रश्न था'। छायावादी कवि की दृष्टि मे वृत्तान्त मुख्य न था। उसने कहानी मानो पढी ही नही। कालिदास नामक ऐन्द्राजालिक द्वारा सशरीर ऑखो के सामने ला खडी की गयी प्रकृति की अनिर्वचनीय मूर्ति को वह अपलक देखता रह गया।''[124]

प्रयोगवाद, नयी कविता मे सम्प्रेषणीयता को लेकर बार–बार प्रश्न उठाया गया। अज्ञेय इसे प्रयोगशीलता के लिए बराबर चुनौती मानते है। 'तारसप्तक' के अपने व्यक्तव्य मे अज्ञेय लिखते है ''जो व्यक्ति का अनुभूत है, उसे समष्टि तक कैसे उसकी सम्पूर्णता मे पहुचाया जाए–यही पहली समस्या है जो प्रयोगशीलता के ललकारती है।''[125] इसी समस्या से अज्ञेय एक बार फिर जूझते है दूसरे सप्तक मे जब वे कहते है कि ''कवि नए तथ्यो को उसके साथ नए रागात्मक सम्बन्ध जोडकर नए सत्यो का रूप दे, उन नए सत्यों को प्रेष्य बनाकर उनका साधारणीकरण करे, यही नई रचना है''[126] समय के विकासमान होने के साथ–साथ रागात्मक सम्बन्धो मे भी परिवर्तन होता चलता है जिससे सम्प्रेषण की समस्या और महत्वपूर्ण हो जाती है। इसी सन्दर्भ मे अज्ञेय काव्यवस्तु, काव्यसत्य, भाषा और शब्द पर विचार करते है। अज्ञेय के लिए सत्य वही है जिसके साथ कवि का रागात्मक सम्बन्ध हो। इस तरह वे 'वस्तुसत्य' और 'व्यक्तिसत्य' मे भेद करते है। अज्ञेय लिखते है ''काव्य का विषय और काव्य की वस्तु (कण्टेण्ट) अलग–अलग चीजें है।''[127] 'प्रयोगवाद' के विरोध मे 'प्रपद्यवाद' ने ''शब्द'' के लेकर एक आन्दोलन चलाया और घोषणा की कि 'चीजों का एक मात्र सही नाम होता है।' अज्ञेय ने इस बात को स्वीकार करते हुए भी, ठीक उसी ढग मे नही लिया जो उद्देश्य प्रपद्यवादियो का था। चूँकि शब्द की महत्ता उसके मात्र एक नाम से ही नही होती है, अगर होती तो हमारे बीच न जाने कितने शब्दकोशो की पिटारी खुल जाती। शब्द हमेशा नये अर्थ देते रहे है, और देगे बावजूद इसके अपने पुराने सस्कार के। नया कवि इसीलिए महत्वपूर्ण हो पाता है कि 'शब्द'

मे वह नयी अर्थवत्ता भरता रहता है। अज्ञेय के अनुसार "आज भी मेरे सामने जो समस्या है और जिसका हल पा लेना मै अपने कवि जीवन की चरम उपलब्धि मानूॅगा, वह अर्थवान् शब्द की समस्या है । काव्य सबसे पहले शब्द है। और सब से अन्त मे भी यही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है। सारे कवि–धर्म इसी परिभाषा से निसृत होते है, शब्द का ज्ञान–शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड–ही कृतिकार की कृति बनाती है। ध्वनि–लय–छन्द आदि के सभी प्रश्न इसी से निकलते है और इसी मे विलय होते है। इतना ही नही सारे सामाजिक सन्दर्भ भी यही से निकलते है, इसी मे युग–सम्पृक्ति का और कृतिकार के समाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है।"[128] अज्ञेय 'शब्द' को इतना महत्वपूर्ण मानते है कि उसे कवि ही नही मानते "जो शब्द के सस्कार के प्रति सजग नही है।"[129] "प्रत्येक शब्द का प्रत्येक समर्थ उपयोक्ता उसे नया सस्कार देता है। इसी के द्वारा पुराना शब्द नया होता है–यही उसका कल्प है। इसी प्रकार शब्द 'वैयक्तिक प्रयोग' भी होता है और प्रेषण का माध्यम भी बना रहता है, दुरुह भी होता है और बोधगम्य भी, पुराना परिचित भी रहता है और स्फूर्तिप्रद अप्रत्याशित भी। नये कवि की उपलब्धि और देन की कसौटी इसी आधार पर होनी चाहिए। जिन्होने शब्द को नया कुछ नही दिया है, वे लीक पीटने वाले से अधिक कुछ नही है–भले ही जो लीक वे पीट रहे है वह अधिक पुरानी हो।"[130] इसी दृष्टि से अज्ञेय 'केशवदास' को पसन्द करते है।

हिन्दी साहित्य मे 'आदमी' की परिकल्पना समय के साथ–साथ परिवर्तित होती रही है। भक्तिकाल का आदमी वही नही है जो छायावाद का है और छायावाद का वही आदमी सन् 50–60 के आस–पास वही नहीं रह जाता जो छायावाद का रहा। लक्ष्मीकान्त वर्मा तो 'लघुमानव' तक की बात करते है और यही 'लघुमानव' वर्माजी के लिए 'आम आदमी' है। लेकिन अज्ञेय किसी 'आम आदमी' की परिकल्पना को वैज्ञानिक नही मानते। अज्ञेय कहते है कि "आम आदमी क्या होता है? आम जनता शायद होती है क्योकि जनता एक अमूर्तन है, केवल परिभाषिक अस्तित्व रखती है। पर आम आदमी क्या है? यानी साहित्यकार के लिए कलाकार के लिए क्या होता है। (साख्यिक परिभाषा मे एक 'औसत' इकाई का नाम भले ही हो।) कला की, साहित्य की आख से जिसे भी देखो वह खास है अद्वितीय है..बल्कि जिससे देखने से ही

'आम' खास हो जाए, वही कला दृष्टि है। जैसे आस्थावान के लिए 'ईश्वर' 'आम' नही होता, वैसे ही कलाकार के लिए आदमी 'आम' नही होता।"[131] प्रश्न 'आम आदमी' का न होकर उसके सस्कारो खासकर 'भाषा' का था। अज्ञेय के अनुसार "आम भाषा भी नही होती यानी साहित्य मे नही होती। साधारण शब्दावली हो सकती है साधारण इस अर्थ में कि सभी की जानी-मानी हुई हो। पर कवि के इस्तेमाल मे आते ही वह विशिष्ट हो जाती है। एक-एक शब्द विशिष्ट हो जाता है, बल्कि सर्जक प्रयोग वही है जिससे ऐसा हो जाय। जैसे कविदृष्टि 'आम' आदमी को खास बनाती है, वैसे ही कवि-प्रयोग 'आम' शब्द को खास बनाता है।"[132]

नयी कविता के ऊपर अश्लीलता, कुठा, क्षणवाद, परम्पराभजक, विदेशीचिन्तन से प्रभावित आदि होने का आरोप लगा। इसकी परिधि मे अज्ञेय भी थे। मूलत ये सारे प्रश्न मध्यवर्गीय मानसिकता को लेकर थे। मध्यवर्गीय मानसिकता को स्वीकार करते हुए अज्ञेय ने माना कि आज का कवि मध्यवर्ग से आता है, मुख्यत· मध्यवर्ग का ही जीवन चित्रित करता है। इसी वर्ग मे वर्जनाए सबसे अधिक है इसीलिए इसी वर्ग मे कुठाए सबसे स्पष्ट लक्षित होती है। अभिजात वर्ग और लोक वर्ग के बीच का वर्ग मध्यवर्ग है। चूँकि साहित्यकार का परिवेश उसकी दृष्टि को विकसित करता है तो स्वाभाविक है कि ये सारे तत्व उसकी कविता मे आये। क्षणवाद के विषय मे अज्ञेय 'क्षण' के आग्रह को क्षणिकता का आग्रह नही मानते। "मैने क्षण पर जो बल दिया है वह अनुभूति के प्रति सच्चाई के सन्दर्भ मे ही यानी रचना-प्रक्रिया के सन्दर्भ में। भोक्ता के द्रष्टा होने का परिवर्तन-क्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण क्षण है, वही स्रष्टा होने की पहली शर्त है । ऐसा ही क्षण साहित्य का असल वर्तमान है।"[133] 'अश्लीलता' का दश अज्ञेय झेलते हुए भी अपनी इस बात पर कि 'श्लील और अश्लील देशकाल पर आश्रित है' पर डटे हुए रहे। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "अज्ञेय का मानना है कि नैतिक-अनैतिक की परख कुछ अभिमूल्यों के आधार पर होती है जो विकासमान होते है, स्थिर और जड नही होते। नैतिक मूल्य भी मानव-विवेक से ही उत्पन्न होते है।"[134]

अज्ञेय ने अपने आलोचकीय विवेक से 'नयी कविता' के ऊपर लगे तमाम आरोपो को निरसित कर न सिर्फ नयी कविता की महत्ता को प्रतिष्ठित किया बल्कि

तटस्थ भाव से मूल्याकन की एक नयी पद्धति का आविष्कार किया। मुक्तिबोध की भी यही माग अपने समकालीन आलोचको से थी। 'नयी कविता' के अपने प्रतिमानो से अज्ञेय ने परम्पराबद्ध साहित्य का भी नया मूल्याकन किया। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "उन्होने अपने से पहले, समकालीन और परवर्ती सभी आयुक्रम के लेखको का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन किया और यो परम्परा की सही पहचान बनाने मे गुणात्मक योग दिया है।"[135] अज्ञेय की आलोचना–दृष्टि और उनके प्रतिमानो के महत्व को रेखाकित करते हुए डॉ० निर्मला जैन लिखती है कि अज्ञेय ने "अपने आलोचनात्मक टिप्पणियो के द्वारा नयी कविता को प्रतिष्ठित करने के साथ ही उसके मूल्याकन के प्रतिमान का निरूपण तो किया ही, इस नये प्रतिमानो से पुराने कवियो का पुनर्मूल्याकन भी किया।"[136]

(ग) नयी कविता, नई समीक्षा के आलोचक :

रघुवंश, लक्ष्मीकांत वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी

'नयी कविता' को केन्द्र मे रखकर रघुवश, लक्षमीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, धर्मवीर भारती, रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि ने विचार–विमर्श को आगे बढाया। नयी कविता, नई कहानी की तर्ज पर 'नयी आलोचना' की प्रतिध्वनि भी इसी काल मे सुनाई पडी। 'नयी आलोचना' से सबसे अधिक प्रभावित रामस्वरूप चतुर्वेदी है। लक्ष्मीकात वर्मा, धर्मवीरभारती, जगदीशगुप्त मूलत कवि हैं। और उन्होने जो विचार व्यक्त किया है वह 'नयी कविता' की पृष्ठभूमि को ही ध्यान मे रखकर। अतः इन्हे 'आलोचक' के बजाय 'नयी कविता' के पथप्रदर्शक के रूप मे अधिक जाना जाता है। मूलत इनकी आलोचना,(?) प्रभाविव्यजकता के रूप मे अधिक है। धर्मवीरभारती ने 'मानव मूल्य' को लेकर अपने विचार व्यक्त किये है तो लक्ष्मीकांत वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' और 'नये प्रतिमान पुराने निकष' मे 'नयी कविता' के प्रतिमानो को ही अपनी आलोचना का विषय बनाया है। जगदीशगुप्त 'नयी कविता' के सस्थापक–सम्पादक रहे है उन्होने जो विचार व्यक्त किया है वह नई कविता की

'भावभूमि' को लेकर ही है। रघुवश जी और रामस्वरूप चतुर्वेदी ही इस काल के ऐसे आलोचक है जिन्हे हम व्यावहारिक आलोचक की श्रेणी मे पाते है।

रघुवश जी पर लोहिया का प्रभाव रहा है। लोहिया गॉधी से अधिक जुडते है नेहरू से कम। रधुवश जी भी स्वीकार करते है कि "मूलत मेरे चिन्तन का आधार गॉधी–विचार रहा है, अत मेरी सत्य न्याय और अहिसा पर पूरी आस्था रही है।"[137] रघुवश जी वैज्ञानिक और सामाजिक पूॅजीवाद को साम्राज्यवादी दृष्टि से देखते है। वस्तुत 'व्यक्ति–स्वतन्त्रता' ही इनकी आलोचना की मूल दृष्टि है। नन्द किशोर नवल के अनुसार "यह भी एक प्रकार का समन्वयवाद ही है जिसमे आधुनिक वैज्ञानिक विचार–धारा और मध्ययुगीन धार्मिक–नैतिक विचार–धारा जैसी बेमेल चीजो के बीच सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस समन्वयवाद का आधार भी मध्यवर्ग ही है।"[138] रघुवश जी ने गॉधीवादी प्रभाव से ही पूॅजीवादी, मार्क्सवाद दोनो का विरोध किया। गॉधीवादी दर्शन से ही रघुवश जी आज के समाज को आधुनिक बनाने पर जोर देते है। रघुवश जी के अनुसार "हमारे लिए आधुनिक होने का मतलब है कि हम गतिशील, मौलिक और सर्जन–शील हो।"[139] इसका अर्थ यह हुआ कि आधुनिकता अपने या पराये मूल्यो मे बॉधना नही, बल्कि निरन्तर गतिशील बने रहने मे है। यही सर्जनशीलता है और इसकी आधुनिक दृष्टि मूलत· दो प्रकार की है "बौद्धिकता और निजी व्यक्तित्व की खोज"। इन्ही दो दृष्टियों से रघुवश जी ने अपने साहित्य सम्बन्धी विचार व्यक्त किये है। "रचनाकार समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था के विरूद्ध खडे होकर, उनके समस्त मूल्यो को नकारकर, प्रतिष्ठित आदर्शों को चुनौती देकर भी अपनी रचना–प्रक्रिया मे किन्ही न किन्हीं मूल्यो की भूमिका प्रस्तुत करता ही है"[140] पर "किसी युग का कवि मूल्यो की स्थापना नही करता... यह अलग बात है कि उसकी व्यजना के आधार पर आगत मूल्यो का संचरण हो सके।"[141]

छायावाद के बाद हिदी कविता का विकास दो रूपों मे हुआ–प्रगतिवाद और प्रयोगवाद से नई कविता। रघुवशजी के अनुसार प्रगतिवादी कविता अयथार्थवादी रही है। "प्रगतिवादी कविता 'कुत्सित समाजशास्त्रीय' आलोचकों के प्रभाव से वर्ग–सघर्ष तथा सामाजिक क्रान्ति का अयथार्थ स्वर भरती रही है। अधिकतर प्रगतिवादी कवि अपने देश के सामाजिक यथार्थ से अपरिचित रह कर रूस तथा चीन की सामाजिक

क्रान्ति के गीत गाते रहे है।"[142] तो प्रयोगवाद और नई कविता का स्वर यथार्थवादी रहा है "प्रयोगशील और बाद मे नया कहलाने वाले साहित्य के बारे मे कहा जाता है कि उसमे पिछले छायावादी प्रगतिवादी आदि की तुलना मे यथार्थ को सही ढग से ग्रहण करने की खोज या प्रयत्न है। एक प्रकार से यथार्थ को बचा जाने की उनकी प्रवृत्ति के प्रति इस साहित्यिक दृष्टि का विरोध और विद्रोह रहा है।. हमने अपने युग जीवन के सम्पूर्ण यथार्थ को ग्रहण किया, अर्थात् अमुक विषय और पक्ष रचना के क्षेत्र मे आते है, यह सीमा त्याग दी गयी है। यथार्थ का अर्थ हुआ सब कुछ जो भी रचनाकार के व्यक्तित्व से टकराता है और रचनात्मक अनुभव बनता है।"[143] रघुवंशजी बौद्धिकता को नयी कविता का एक मूल उत्स मानते है। क्योकि इसके बिना न तो कविता मे तटस्थता सम्भव हो सकती है और नही रोमानी भावुकता से मुक्ति। इस दृष्टि से रघुवीर सहाय महत्वपूर्ण कवि है क्योकि "यथार्थ और अनुभूति के प्रति अकृत्रिम जिज्ञासा से आकर्षित है, पर उसमे रोमांटिक भावुक आकर्षण के स्थान पर तटस्थ अनुभव की मनस्थिति मात्र व्यजित होती है।"[144] इसी यथार्थ, बौद्धिकता की कसौटी पर विपिन कुमार अग्रवाल रघुवंशजी को प्रिय लगते है। रोमानी अभिव्यक्ति वाले कवि जैसे, गिरिजा कुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, साही, जगदीशगुप्त उन्हे नापसन्द है। धर्मवीर भारती नयी कविता के सर्वाधिक रोमाटिक मनोभाव वाले कवि रहे है। रघुवश जी ने भारती की अतिशय रोमांटिकता को एक खतरनाक प्रवृत्ति मानते हुए कहते है कि "भारती अपनी मौलिक प्रकृति के कारण यथार्थ को उस तटस्थ और असपृक्त सवेदन के स्तर पर, व्यंजित करने मे असमर्थ है, जो आधुनिकता का विकसित होता हुआ भावबोध है।"[145] 'रोमानी अभिव्यक्ति' को कविता में नकारते हुए रघुवश जी कविता मे 'बौद्धिक—यथार्थ' का पक्ष लेते है, इसी दृष्टि से सातवे दशक की कविता में धूमिल उनके लिए महत्वपूर्ण कवि है क्यो कि "समस्त साठोत्तर कवियो मे कुछ ऐसे कवि जरूर है, जिनमें युग की सारी विसगतियो का गहरा अहसास है, पर उनमे भावावेश, आक्रोश तथा उत्तेजनाएँ नही है। वे गहरी ससक्ति के साथ अपने युग जीवन का अंनुभव करते हैं और उनमें एक दायित्व भी निहित है।[146] रघुवंश जी की आलोचना के बारे मे नन्दकिशोर नवल का मानना है कि "उनके साहित्य—सम्बन्धी चिन्तन मे उलझाव है और उनकी आलोचना

की शक्ति सीमित है। उनकी पद्धति शास्त्रीय नही है, पर उस पर पाश्चात्य आलोचना का स्पष्ट प्रभाव है।"[147] रघुवश जी की महत्व हिदी आलोचना मे इस दृष्टि से है कि उन्होने अपने विवेचन से नयी कविता के साथ–साथ आधुनिक साहित्य के सैद्धान्ति पक्ष को स्पष्ट किया है।

'नयी कविता' के सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत करने का जो प्रयास रघुवशजी का है उससे महत्वपूर्ण मान्यता देने का सराहनीय प्रयास लक्ष्मीकान्त वर्मा का है। नयी कविता के सन्दर्भ से लक्ष्मीकान्त वर्मा ने हिन्दी साहित्य मे 'लघुमानव' की वकालत की है, जिसके पीछे साही जी की बौद्धिक प्रेरणा रही है।[148] प्रयोगवाद से अलग 'नई कविता' की स्थापना के पीछे वर्मा जी का मूल उद्देश्य था अज्ञेय, समर्थित धारा का विरोध। 'नयी कविता' की आलोचना कैसी हो? लक्ष्मीकान्त वर्मा का मूल उद्देश्य रहा है 'नयी कविता के प्रतिमान मे'। उनका मानना है कि "प्रगतिवादी आलोचको मे उनका 'वाद' इतना छा जाता है कि वे प्रत्येक बात मे केवल सन्देह ही पाते है। छायावादी युग के आलोचक परम्पराओ से चिपक कर नयी कविता पर दृष्टि डालते है किन्तु इन दोनो के अति से बचकर यदि स्वतन्त्र रूप से निरपेक्ष Objective दृष्टिकोण से देखा जाय तो निश्चय ही नयी कविता मे वे तत्व मिलेगे जिनमें साहित्य और कला पक्ष दोनो ही का निर्वाह किया गया है।"[149] लक्ष्मीकान्त वर्मा के अनुसार नयी कविता के मुख्य तत्व है –

1 उसकी नयी परिप्रेक्षणीयता
2 अनुभूतियो के नये रूपान्तरण और उनके नये अनुभव क्षेत्र
3 सौन्दर्य बोध के नये धरातल
4. परम्परागत विकृत मूल्यो के परिष्करण
5 मतवादी भ्रान्तियो से मुक्ति पाने की कामना
6 तदात्म सत्य की वे परिधियॉ जिनमें हमारा रागात्मक रस बोध नये आयामो का अन्वेषण करने की सामर्थ्य पाता है।[150]

लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपने विवेचन से 'नयी कविता' के सैद्धान्तिक पक्षो को प्रस्तुत किया। यह अलग बात है कि विजयदेव नारायण साही ने इनके इस कार्य का विरोध करते हुए 'कविता के नये प्रतिमान' की वकालत की क्योकि "नयी कविता का

इतिहास अभी अत्यल्प है, इसलिए इतने कम समय मे नयी कविता के प्रतिमानो पर चर्चा करना अभी उचित नही है अच्छा होता कि नयी कविता के प्रतिमानो की अपेक्षा कविता के नये प्रतिमानो की खोज की जाती।"[151]

'नये प्रतिमान पुराने निकष' मे वर्माजी ने नयी कविता के छद्म छायावादिता को घोर आपत्तिजनक माना है। वर्मा जी की मुख्य शिकायत है "जिस लिरिकलमूड को पिछले पन्द्रह वर्षों से नया कवि तोडना चाहता था, आज वह पूरी तरह उस पर सवार है।"[152] मूलत 'नई कविता' के कवि होने के कारण वर्माजी ने 'नई कविता' के विवेचन मे अपने 'कवि–विवेक' का ही इस्तेमाल अधिक किया है जिससे उनकी आलोचना में प्रभाविव्यजकता का तत्व अधिक उभर आता है। इसी कारण निर्मलाजैन ने उन्हे नयी कविता का शाति प्रिय द्विवेदी माना है।[153]

जगदीश गुप्त का महत्व इस दृष्टि से है कि उन्होने 'नयी कविता' पत्रिका के सस्थापक–सपादक की हैसियत से 'नयी कविता' के सैद्धान्तिक पक्षो की विवेचना की है। तटस्थ दृष्टिकोण से अपने सहयोगी रचनाकारो के 'नयी कविता' सम्बन्धी विवेचन से मतभेद रखते हुए वे अपने विचार व्यक्त करते थे। लक्ष्मीकान्त वर्मा के 'लघुमानव' की धारणा का विरोध करते हुए गुप्त जी लिखते है "वास्तव में लघुता दूसरों की महानता से उत्पन्न एक अभिशाप है। मानवता अथवा वीर पूजा का विरोध करना और लघुता को एक प्रतिमान बनाकर मानव व्यक्तित्व पर उसे आरोपित करने का यत्न करना निरर्थक और परस्पर विरोध है।"[154] लक्ष्मीकान्त वर्मा ने अपनी बात को स्पष्ट करते हुए 'लिटिल मैन' और 'स्माल मैन' मे अन्तर माना। जबाब मे गुप्त जी कहते है कि 'श्री वर्मा ने प्रतिवाद मे उत्तर यह तर्क देकर की 'लिटिलमैन' का तात्पर्य 'स्माल मैन' नही है, अथवा लघु और छोटा समानार्थी शब्द नही है, व्यर्थ का वाग्जाल खडा करना है, जिस पर कोई समझदार आदमी श्रद्धा नही करेगा।"[155] क्योकि आधुनिक साहित्य का लक्ष्य सहज एव प्रकृत–मानव–व्यक्तित्व को परखना है उसकी लघुता का गुणगान करना नही।

धर्मवीर भारती 'नई कविता' के रोमानीधारा के कवि के रूप मे जाने जाते है। स्वातत्रोत्तर भारत में विश्वयुद्ध की मार से तडपती जनता मे 'मानव–मूल्यों' की

प्रतिष्ठा का प्रश्न एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। धर्मवीर भारती ने महसूस किया कि आज का मानव कितना निष्प्राण, दिग्भ्रमित हो गया है। उसके वे मूल्य गायब हो गये है जिनसे किसी की मनुष्यता का मापन होता आया है। 'मानवमूल्य और साहित्य' मे धर्मवीर भारती ने इन्ही प्रश्नो से जुझने की कोशिश की है। पर इन सब से महत्वपूर्ण एक बात और थी जिससे भारती की भावभूमि का पता चलता है। रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार "नयी कविता नवलेख के दौर मे कम्युनिस्ट आदोलन की सर्वसत्ता वादी पद्धति का आक्रान्तकारी रूप देश के बौद्धिक जीवन मे प्रवेश कर रहा था। फलत छठे दशक मे मानव मूल्य और व्यक्तित्व की बुनियादी स्वाधीनता को लेकर इस क्षेत्र मे व्यापक बहस चलती है।"[156] लोहियावादी समाजवादी दृष्टिकोण से भारती ने न सिर्फ मार्क्सवाद का विरोध किया बल्कि फ्रायड की अपूर्णता पर भी विचार किया। 'अन्तरात्मा के ध्वसावशेष' मे भारती ने 'अन्तरात्मा' की आधुनिक परिभाषा दी है। उनके अनुसार "विवेक अन्तरात्मा के सहायक तत्वो में सभवत सबसे प्रमुख और विश्वसनीय है। मानवीय गौरव के अर्थ यह है कि मनुष्य को स्वतंन्त्र, सचेत, दायित्व मुक्त माना जाए, जो अपने इतिहास का निर्माता हो सकता है"[157] भारती के दौर मे राजनीति और साहित्य को लेकर बराबर घर्षण की स्थिति बनी रही। यद्यपि आज भी यही स्थिति है इस दृष्टि से भारती का यह कथन महत्वपूर्ण हो जाता है कि "हर हालत मे राजसत्ता के समक्ष अपनी स्वतन्त्रता की स्थिति बनाए रखनी चाहिए, चाहे इसके लिए उसे जो भी मूल्य चुकाने पडे।"[158] मूलत. 'नयी कविता' के कवि होने के कारण धर्मवीर भारती भी प्रमाभिव्यजकता से अझूते नही रहे है। लेकिन भारती ने 'मानव–मूल्यो' का प्रश्न उठाकर एक नयी बहस की शुरूआत की जिससे आज का आलोचक सवाद कर सकता है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी इस दौर के एक मात्र आलोचक रहे है जो सैद्धान्तिक समीक्षा के साथ–साथ व्यावहारिक समीक्षा भी अद्यतन जारी रखे हुए है। रामविलास शर्मा के बाद चतुर्वेदी जी ही एक मात्र ऐसे आलोचक है जिन्होने हिन्दी साहित्य को उसकी पूरी जातीय सस्कृति में देखने का प्रयास किया है।

चतुर्वेदी जी मुख्यत 'काव्यभाषा' को केन्द्र मे रखकर समीक्षा कर्म मे प्रयुक्त हुए है। उनके अध्ययन का विषय बराबर भाषा के उपकरण शब्द, विम्ब, प्रतीक आदि

रहे है। साथ ही भाषा और अनुभूति के द्वैत से उपजी सवेदना पर भी उन्होने विचार किया। रामचन्द्र तिवारी का मानना है कि चतुर्वेदी जी के लिए "चित्तवृत्तियो का सश्लेषण ही सवेदन है।"[159] और इसी सवेदना का बदलाव साहित्यिक गुणो के बदलाव का साक्षी होता है। चतुर्वेदी जी साहित्य के विकास के साथ सवेदना के विकास का महत्व इतिहाकार के लिए महत्वपूर्ण मानते है। चतुर्वेदी जी का मानना है कि भाषा के बगैर मनुष्य पशु हो जाता है। "मनुष्य भाषा मे जीता है, जीने का अनुभव करता है तब तक और जिस सीमा तक भाषा नही बनी थी तब तक और उस सीमा तक मनुष्य पशु था।"[160]

चतुर्वेदी जी की आलोचना की केन्द्रिय धुरी अज्ञेय और उनका साहित्य रहा है। चतुर्वेदी जी का मानना है कि "आधुनिक साहित्य मे मानवीय व्यक्तित्व और उसकी सर्जनात्मकता की सबसे गहरी और सार्थक चिन्तना स०ही० वात्स्यायन अज्ञेय के कृतित्व मे मिलती है।"[161]

चतुर्वेदी जी ने अज्ञेय के साथ–साथ प्रसाद निराला के काव्य का परीक्षण किया है। इसी क्रम मे उन्होने मुक्तिबोध, शमशेर, रघुवीर सहाय के साथ–साथ तारसप्तक के बाद के लगभग सभी कवियो की भाषिक समीक्षा की है। "हिंदी साहित्य और सवेदना का विकास' मे चतुर्वेदी जी ने न सिर्फ आदिकाल से लेकर अद्यतन काव्य–परम्परा की समीक्षा की है बल्कि कुछ मौलिक स्थापनाएँ भी की है। 'छायावाद' को 'शक्तिकाव्य'[162] के रूप मे देखने का पहला मौलिक कार्य चतुर्वेदी जी ने ही किया है।

'कामायनी का पूनर्मूल्याकन' मे चतुर्वेदी जी पुनर्मूल्याकन को परिभाषित करते हुए कहते है कि "पूनर्मूल्याकन की बात साहित्य मे तब आती है जब किसी रचना, कवि, अथवा युग–विशेष को देखने–परखने की दृष्टि मे गुणात्मक अन्तर आ जाय। हर–समय की दृष्टि से – अगला मूल्याकन पुनर्मूल्याकन नही होगा क्योंकि सम्भव है कि वह पिछले मूल्याकन का ही विस्तार अथवा पूरक हो।"[163]

हिन्दी मे गद्य की कोई निजी सत्ता न मानने वाले चतुर्वेदी जी का मानना है कि रचना के क्षेत्र मे सूचनात्मक गद्य छाया हुआ है। 'हिन्दी गद्यः विन्यास और

विकास' मे गद्य की 'निष्पत्ति को रेखाकित करते हुए वे कहते है "इस आधुनिक काल की चरम परिणतियो मे एक है कविता के क्षेत्र मे गद्य का सक्रमण 'गद्य कविता।[164]

चतुर्वेदी जी ने लक्ष्मीकान्त वर्मा, विजयदेव नारायण साही, नामवर सिह द्वारा प्रतिमान के विषय को बार–बार उठाये जाने पर आपत्ति की है। और 'प्रतिमानो' की प्रासगिकता को नकार सा दिया है। उनका मानना है कि "नयी कविता के प्रतिमान या कविता के नये प्रतिमान की बहस एक सीमा तक ही आलोचको का साथ देती है। अतत तो उसे रचना के लिए प्रतिमान उस रचना और अपने आलोचना विवेक की टकराहट मे से ही आविष्कृत करने होगे। और तब प्रतिमान की परिकल्पना स्वय प्रासगिक नही रह जाती।"[165] चतुर्वेदी जी ने आधुनिक साहित्य को परखने की कसौटी भाषा और अनुभूति के अद्वैत और उसकी सवेदना निर्धारित की और आज भी वे इस कार्य को पूरे मनोयोग से कर रहे है।

इन आलोचको के अतिरिक्त सप्तको के कवियो ने स्फुट आलोचना का कार्य किया है। खासकर शमशेर, रघुवीर सहाय ने, शमशेर ने 'कुछ गद्य रचनायें' मे अपनी बारे मे तथा आधुनिक कविता के बारे मे विचार व्यक्त किया है। मुक्तिबोध को लेकर शमशेर ने बहुत ही भावपूर्ण विवेचन किया है। रघुवीर सहाय ने भी अपने सम–सामयिक रचना काल पर टिप्पणी की है।

साही के दौर के मुख्यत· यही आलोचक रहे है जिनसे हिन्दी आलोचना की नई प्रतिष्ठा नये स्तर पर होती है।

फुटनोट

1 आधुनिक भारत का इतिहास – स० रामलखन शुक्ल पृ0 508
2 आधुनिक भारत का इतिहास – सं० रामलखन शुक्ल पृ0 510
3 राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक महासघ का स्वर्णजयती समारोह–9,10,11 अप्रैल 1986
4 हिदी साहित्य कोश भाग–1 स0 धीरेन्द्र वर्मा पृ० 395
5 तारसप्तक (सातवा पेपर बैक) सस्करण – स० अज्ञेय पृ० 222
6 तारसप्तक (सातवा पेपक बैक) स० अज्ञेय पृ० 222
7 हिदी साहित्य कोश, भाग – 1 स० धीरेन्द्र वर्मा पृ० 410
8 हिदी साहित्य कोश – भाग 2 स० धीरेन्द्र वर्मा पृ० 331
9 हिदी साहित्य कोश – भाग–2 स० धीरेन्द्र वर्मा पृ० 332
10 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 68
11 साहित्य की परख – शिवदान सिह चौहान पृ० 02
12 साहित्य की परख – शिवदान सिह चौहान पृ० 24
13 साहित्य की परख – शिवदान सिह चौहान पृ० 24
14 साहित्य की परख – शिवदान सिह चौहान पृ० 19–20
15 साहित्य की परख – शिवदान सिह चौहान पृ० 19–20
16 हिदी समीक्षा स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 267
17 हिदी समीक्षा : स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 267
18 साहित्य की परख – शिवदान सिह चौहान पृ० 24
19 हिदी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 179–180
20 हिदी साहित्य की जनवादी परम्परा – प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० 138
21 हिदी साहित्य की जनवादी परम्परा – प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० 140
22 आधुनिक हिदी साहित्य · एक दृष्टि – प्रकाशचन्द्र गुप्त पृ० 69
23 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 68
24 हस – प्रगतिअक – 1 पृ० 410–11
25 प्रेमचन्द्र – रामविलास शर्मा पृ० 13
26 प्रेमचन्द्र – रामविलास शर्मा पृ० 183
27 मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य – राम विलास शर्मा पृ० 326–27
28 आजकल·साक्षात्कार रामविलास शर्मा से प्रकाश मनु की बातचीत पृ० 07 अप्रैल 2000
29 निराला की साहित्य साधना–भाग–1 रामविलास शर्मा पृ० 540
30 निराला की साहित्य साधना–भाग–1 रामविलास शर्मा पृ० 540
31 निराला की साहित्य साधना–भाग–1 रामविलास शर्मा पृ० 546
32 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिदी आलोचना – रामविलास शर्मा पृ० 07
33 नयी कविता और अस्तित्ववाद – रामविलास शर्मा पृ० 28
34 नयी कविता और अस्तित्ववाद – रामविलाश शर्मा पृ० 34
35 छठवांदशक – विजय देव नारायण साही पृ० 321
36 नयी कविता और अस्तित्ववाद – रामविलाश शर्मा पृ० 321
37 आधुनिक हिंदी आलोचना सन्दर्भ और दृष्टि – रामचन्द्र तिवारी पृ० 116

38 नयी कविता और अस्तित्वाद रामविलाश शर्मा पृ० 90
39 नयी कविता और अस्तित्ववाद · रामविलाश शर्मा पृ० 154–55
40 नयी कविता और अस्तित्ववाद . राम विलाश शर्मा पृ० 166
41 निराला की साहित्य साधना – द्वितीय खण्ड – रामविलाश शर्मा पृ० 469
42 निराला की साहित्य साधना – द्वितीय खण्ड – रामविलाश शर्मा पृ० 477
43 परम्परा का मूल्याकन – रामविलाश शर्मा पृ० 172
44 परम्परा का मूल्याकन – रामविलाश शर्मा पृ० 153
45 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 74
46 हिदी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 198
47 हिदी समीक्षा . स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 284
48 हिदी आलोचना का विकास – नन्दकिशोर नवल पृ० 276
49 कामायनी · एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 151
50 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 151
51 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 151
52 कामायनी · एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 20
53 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 20
54 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 21
55 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 21
56 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 21
57 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 36
58 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 163
59 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 158
60 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 158
61 कामायनी एक पुनर्विचार – मुक्तिबोध पृ० 183
62 कामायनी जयशकर प्रसाद (आमुख) पृ० (viii)
63 पत प्रसाद और मैथिलीशरण – रामधारी सिह दिनकर पृ० 91
64 कामायनी का पुर्नमूल्याकन – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 16
65 कामायनी का पुर्नमूल्याकन – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 16
66 नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र – मुक्तिबोध पृ० 140
67 नयी कविता का आत्मसघर्ष एव अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 148–49
68 नयी कविता का आत्मसघर्ष एव अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 140
69 नयी कविता का आत्मसघर्ष एव अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 140
70 नयी कविता का आत्मसघर्ष एवं अन्य निबन्ध – मुक्तिबोध पृ० 92
71 एक साहित्यिक की डायरी – मुक्तिबोध – पृ० 20–21
72 एक साहित्यिक की डायरी – मुक्तिबोध – पृ० 23
73 वर्तमान साहित्य (पत्रिका) – हिंदी आलोचना के सौ बरस (स० अरविन्द त्रिपाठी) भाग–1 पृ० 174
74 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 78–79
75 हिदी आलोचना – विश्वनाथ त्रिपाठी पृ० 198
76 हिंदी के विकास मे अपभ्रश का योग – नामवर सिह पृ० 248
77 हिदी के विकास मे अपभ्रश का योग – नामवर सिह पृ० 248

78 छायावाद – नामवर सिह पृ० 16
79 छायावाद – नामवर सिंह पृ० 16
80 छायावाद – नामवर सिह पृ० 16
81 छायावाद – नामवर सिह पृ० 22
82 छायावाद – नामवर सिह पृ० 22
83 छायावाद – नामवर सिह पृ० 23
84 छायावाद – नामवर सिह पृ० 69
85 छायावाद – नामवर सिह पृ० 69
86 छायावाद – नामवर सिह पृ० 151
87 छायावाद – नामवर सिह पृ० 152
88 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 12
89 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 12
90 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 71
91 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 86
92 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 77
93 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 110
94 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 222
95 तारसप्तक – स० अज्ञेय पृ० 222
96 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 143–44
97 आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियॉ – नामवर सिह पृ० 143–44
98 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 218
99 कविता के नये प्रतिमान – नामवर सिह पृ० 8
100 कविता के नये प्रतिमान – नामवर सिह पृ० 8
101 कहानी नई कहानी – नामवर सिह पृ० 9
102 कहानी नई कहानी – नामवर सिह पृ० 10
103 कहानी नई कहानी – नामवर सिंह पृ० 52
104 कहानी . नई कहानी – नामवर सिह पृ० 53
105 इतिहास और परम्परा – नामवर सिंह
106 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 81
107 दूसरी परम्परा परम्परा की खोज – नामवर सिंह पृ० 8
108 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 82
109 हिदी के विकास मे अपभ्रंश का योग – नामवर सिंह पृ० 248
110 दस्तावेज (पत्रिका) – स० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी पृ० 4 अक 91
111 बसुधा – स0 कमला प्रसाद पृ० 386 अक 54
112 वर्तमान साहित्य (शता० आलोचना विशेषाक) सं०अरविन्द त्रिपाठी भाग–1 पृ० 93
113 तीसरा सप्तक – स० अज्ञेय पृ० 6
114 साहित्य का नया शास्त्र – गिरिजाराय पृ० 109–110
115 हिन्दी समीक्षा · स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 290
116 हिन्दी समीक्षा · स्वरूप और सन्दर्भ – रामदरश मिश्र पृ० 303
117 अन्तरा – अज्ञेय पृ० 24

118 अन्तरा – अज्ञेय पृ० 35
119 वर्तमान साहि० – शताब्दी आलोचना विशेषाक भाग–1 स० आरविन्द त्रिपाठी–94
120 अन्तरा – अज्ञेय पृ० 28
121 भवन्ती – अज्ञेय
122 आधुनिक हिन्दी साहित्य – अज्ञेय
123 आधुनिक हिन्दी साहित्य – अज्ञेय
124 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 85–86
125 तारसप्तक – स० अज्ञेय पृ० 222
126 दूसरा सप्तक – स० अज्ञेय पृ० 10
127 तीसरा सप्तक – स० अज्ञेय पृ० 8
128 तारसप्तक – स० अज्ञेय पृ० 243
129 तारसप्तक – स० अज्ञेय पृ० 243
130 तीसरा सप्तक – स० अज्ञेय पृ० 7–8
131 लिखि कागद कोरे – अज्ञेय पृ० 82
132 लिखि कागद कोरे – अज्ञेय पृ० 82
133 लिखि कागद कोरे – अज्ञेय पृ० 97
134 वर्तमान साहित्य – आलोचना विशेषाक भाग–1 (अरविन्द त्रिपाठी) पृ० 97
135 हिदी साहित्य और सवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 263
136 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 86
137 क ख ग (पत्रिका) – स० लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 116
138 हिदी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल पृ० 308
139 क०ख०ग० (पत्रिका) – अप्रैल 1966
140 विकल्प (पत्रिका) – नवम्बर 1967
141 साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य – रघुवश पृ० 311
142 साहित्य का नया परिप्रेक्ष्य – रघुवश पृ० 126
143 विकल्प (पत्रिका) – नवम्बर 1967
144 समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता – रघुवश पृ० 34
145 समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता – रघुवंश पृ० 24
146 समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता – रघुवश पृ० 55
147 हिदी आलोचना का विकास – नन्द किशोर नवल पृ० 328
148 हिदी आलोचना की बीसवी सदी –निर्मला जैन पृ० 88–89
149 नयी कविता के प्रतिमान – लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 29
150 नयी कविता के प्रतिमान – लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 32
151 छठवांदशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 219
152 नये प्रतिमान · पुराने निकष – लक्ष्मीकान्त वर्मा पृ० 291
153 हिदी आलोचना की बीसवी सदी – निर्मला जैन पृ० 89
154 नयी कविता · सैद्धान्तिक पक्ष (पत्रिका) स० जगदीश गुप्त पृ० 37
155 नयी कविता . सैद्धान्तिक पक्ष (पत्रिका) स० जगदीश गुप्त पृ० 37
156 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 266
157 मानवमूल्य और साहित्य – धर्मवीर भारती

158 मानव मूल्य और साहित्य – धर्मवीर भारती
159 आधुनिक हिदी आलोचना · समीक्षा और दृष्टि – रामचन्द्र तिवारी पृ० 181
160 सर्जन और भाषिक सरचना – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 17
161 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 195
162 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 110
163 कामायनी का पुनर्मूल्याकन – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 9
164 हिन्दी गद्य विन्यास और विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 224
165 हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास – रामस्वरूप चतुर्वेदी पृ० 263

तृतीय अध्याय

विजयदेव नारायण साही का आलोचना कर्म

छठ्वां दशक

साहित्य क्यों ?

लोकतन्त्र की कसौटियाँ

वर्धमान और पतनशील

साहित्य और साहित्यकार का दायित्व

जायसी

स्वातत्रयोत्तर भारत मे हिन्दी साहित्य के इतिहास मे कवि–आलेचक विजयदेव नारायण साही का योगदान अप्रतिम है। साही एक आलोचक की अपेक्षा 'चिन्तक' ही अधिक है। अपने 'चिन्तन' से 'साही' ने 'हिदी आलाचेना' को एक नयी भाव–भूमि दी जिससे हिदी आलोचना' नयी कविता के दौर मे एक नये भाव–बोध से सपृक्त होकर विकासमान होती है। साही का दौर टकराहटो से उपजी 'आलोचना' का दौर था। अरविन्द त्रिपाठी के अनुसार "इसी दौर मे नामवर बनाम साही, नामवर बनाम अज्ञेय, नामवर बनाम नगेन्द्र, लक्ष्मीकान्त बनाम साही अमृतराय, बनाम परिमल, मुक्तिबोध बनाम अज्ञेय, परिमल बनाम प्रगतिशील लेखकसघ, नई कविता बनाम नई कहानी, कलावाद–व्यक्तिवाद बनाम मार्क्सवाद जैसे दर्जनो साहित्यिक मुकद्दमे चले।"[1]

साही अपनी तत्वान्वेषी तीक्ष्ण दृष्टि से साहित्य को समाज के सन्दर्भ से, राजनीति के सन्दर्भ से, दर्शन–धर्म के सन्दर्भ से देखते–सुनते, विचारते रहे। इस व्यापक भाव भूमि की दृष्टि से साही साहित्य के 'आलोचक' कम उसके 'दार्शनिक' अधिक लगते है। साही का स्वय का मानना है कि "आलोचना साहित्य का दर्शनशास्त्र है। और उसका एक काम यह भी है कि वह संशलिष्ट उत्तर का विश्लेषण करके उसकी सीमारेखा को सुस्पष्ट और तीक्ष्ण बनाये, नही तो जीवन के प्रति साहित्य का स्पर्श–गूँगे के गुड की तरह होकर रह जायेगा।"[2]

अपनी डायरी मे साही अपने आलोचकीय विवेक को लेकर जो उधेड–बुन करते है उससे उनकी 'आलाचेकीय समझ' पर प्रकाश पडता है। 12–1–48 को 'डायरी' मे साही लिखते है "क्या मै सफल आलोचक हो सकता हूँ? मेरी भाव ग्रहिका शक्ति किस–किस प्रकार कार्य प्रतिकार्य करती है ,उसके व्यवहारो के प्रति कुछ न कुछ निश्चित जागरुकता तो मेरे भीतर अवश्य है। जीवन के विभिन्न अनुभव क्षेत्रो मे सिद्धान्तों को लागू करने की भी क्षमता मैने अपने मे देखी है। अपने सीमित ज्ञान के अनुसार मै निष्पक्षता भी रख सकता हूँ, परन्तु यह सब होते हुए भी मुझे पूर्ण विश्वास नही होता कि मै आलोचक हो सकता हूँ। तर्क–वितर्क का शास्त्रीय गद्य लिखने की योग्यता मै अपने मे नही पाता। मैने अपने गद्य को गौर करके देखा

है, भावुक स्थानो पर उसमें निश्चय ही शक्ति आ जाती है। परन्तु केवल दार्शनिक या तार्किक स्थलो पर मेरी लेखनी मे लडखडाहट उत्पन्न हो जाती है। भला जो **शान्त, तर्कपूर्ण, शक्तिवान** गद्य नही लिख सकता वह आलोचक क्या होगा? यह मै जानता हूँ कि प्रयत्न करके अच्छी गद्य शैली अपनाई जा सकती है। पर कौन इस जरा से काम के लिए इतनी मेहनत करने जाये। इतना तो मैं समझता हूँ कि कहानी या नाटक के गद्य मे यह दुर्बलता नही आयेगी। कारण स्पष्ट है। कहानी या नाटक मे कल्पना चित्रो मे सोचना सभव है तर्क मे सभव नही था।''[3] तात्पर्य कि यह उधेडबुन' सिर्फ अपने के लिए नही है, बल्कि आलोचना कैसी हो, किस तरह लिखी जाए, बहस इस पर ज्यादा केन्द्रित है। शान्त, तर्कपूर्ण, शक्तिवान' इन तीन सूत्रो मे से साही तर्कपूर्ण, शक्तिवान' पर तो खरे उतरते है पर शांत' शायद वे कभी नही हो सके। जब तर्कपूर्ण और शक्तिवान' बहस चल रही हो तो लेखनी 'शान्त' कैसे रह सकती है।

साही बहुमुखी प्रतिभा के पुरोधा रहे है। अग्रेजी विषय मे अध्यापन के साथ–साथ समाजवादी पार्टी (लोहिया) के कार्यकता होने और हिन्दी की नयी कविता के 'कवि' व्यक्तित्व से साही 'हिदी आलोचना' में प्रस्तुत होते है। साही के बहुमुखी व्यक्तित्व से 'हिन्दी आलोचना' न सिर्फ अर्थवान होती है बल्कि नई समीक्षा भी सदर्भवान होती है।

'आलोचना' का काम साहित्य मे क्या है? साही का मानना है कि ''आलोचना का काम साहित्यिक कृति की सवदेना को जबरदस्ती खीचकर पाठक तक पहुचाना नही है। आलोचना सिर्फ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह जाने या अनजाने अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहे है जहॉ से काव्य का 'प्रभाव' प्रवाहित हो रहा है, उन्हे विनष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था मे छोड दे।''[4] कुल मिलाकर आलोचना का काम व्याख्या करना भर नही है, बल्कि पाठक मे एक आलोचक सवेदना भी जगाना है।

साही का आलोचना कर्म स्फुट लेखन के रूप मे ही रहा है। 'जायसी' (मूलरूप मे तो भाषण है) को छोडकर उन्होने अपने विचार लेखों भाषणो के माध्यम से ही व्यक्त किये है। साही के लेखो का सग्रह उनकी मृत्यु के बाद जीवनसगिनी कचनलता साही ने बडे मनोयोग से संग्रहित कर प्रकाशित कराया है। साही अपने लिखे को छापने के लिए कभी तैयार नही होते थे। न छापने की उनकी स्थिति उनके 'कविता कर्म' मे भी रही है। पूरे जीवन मे साही का एकमात्र प्रकाशित कविता सग्रह 'मछलीघर' है। 'मछलीघर' की भूमिका मे साही स्वय स्वीकार करते है कि "पुस्तक प्रकाशित करने मे मै अब तक बडा सकोची रहा हूँ। मनोविज्ञान की भाषा मे शायद यह भी कोई मनोग्रथि हो। मेरे लिए तो इसके पीछे कुछ तो काहिली और कुछ साहित्य के प्रति अतिरिक्त आदर–भावना ही थी।[5]

छठवा दशक, साहित्य क्यो? लोकतन्त्र की कसौटियॉ, वर्धमान और पतनशील के साथ–साथ साहित्य और साहित्यकार का दायित्व (जो भाषण है, हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे 25 सितम्बर 1982) साही जी के प्रकाशित निबन्ध सग्रह है। 'जायसी' साही की व्यावहारिक समीक्षा की एकमात्र पुस्तक है। यद्यपि इसमे भी अधिकाशत उनके हिदुस्तानी एकेडेमी मे दिये गये व्याख्यानो का प्रकाशित रूप है। जायसी के प्रकाशकीय मे डॉ0 जगदीश गुप्त कहते है कि ''जायसी' हिन्दुस्तानी एकेडेमी मे 17,18,19 मार्च 1982 को आयोजित स्व० विजयदेव नारायण साही के तीन विशिष्ट व्याख्यानो का प्रकाशित रूप है। व्याख्यानो के रूप मे पठित अशो के अतिरिक्त इनमे वे लिखित अंश भी समाहित है जो समयाभाव के कारण पढे नही जा सके।''

छठवां दशक

'छठवा दशक' साही का बहुचर्चित निबन्ध संग्रह है। सन् 50 से 64 तक के बीच लिखे गये निबन्धो को इसमे शामिल किया गया है। संयोग से साही ने इसकी अधूरी भूमिका लिखी है। वैसे इसका प्रकाशन तो सन् 1966 में ही होना था लेकिन साही की तथाकथित मनोग्रन्थि के कारण इसका प्रकाशन 'साही' की मृत्यु के बाद 1987 मे हो सका। 'भूमिका' मे साही कहते है'' इन लेखों को लिखे हुए काफी अर्सा

गुजर गया। इनमे से पहला लेख तो 1950 मे लिखा गया और सबसे बाद वाला 1964 मे। कुल मिलाकर इन लेखो मे हिन्दी के छठवे दशक के ही आत्मा है'' ।[7]कुल सत्रह निबन्धो मे साही ने छठवे दशक की हिन्दी आलाचेना मे उठने वाले तमाम प्रश्नो से टकराने की कोशिश की है। अधिकाश लेख 'मार्क्सवाद' के विरोध मे लिखे गये है। साथ ही सत्ता और साहित्य के सम्बन्धो के साथ–साथ ही साही के आलोचना कर्म के महत्वपूर्ण अवदान 'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट', 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' निबन्ध भी इस सग्रह मे शामिल है।

भाषा और रचनाकार की भाव–भूमि साही के अध्ययन की केन्द्रीय भूमि रही है। हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल मे कविता के तीन महत्वपूर्ण मोड मिलते है। साही के अनुसार ''भारतेन्दु–युग, छायावाद का प्रारिम्भक काल और युद्धोत्तर हिन्दी साहित्य मे नई कविता के नये उत्थान मे हम हिन्दी की अदम्य प्रगति की तीन महत्वपूर्ण चरणो का आभास पाते है।"[8] छठवा दशक मे साही आधुनिक हिन्दी कविता के समसामयिक साहित्यिक वातावरण, और राजनीति को केन्द्र बिन्दु मानकर कहते है कि साहित्यिक वातावरण के निर्माण मे साहित्यिक गोष्ठियों का महत्व बहुत अधिक होता है। यूरोप से लेकर भारत तक मे इसे परिलक्षित किया जा सकता है। समकालीन वातावरण के विश्लेषण में 'साहित्यिक गोष्ठिया' एक प्रामाणिक दस्तावेज होती है। साही का मानना है कि "समकालीन वातावरण का विश्लेषण करते हुए हम एक सर्वथा नवीन तत्व के उदय से परिचित होते है। वह है हिन्दी के विभिन्न केन्द्रो में शक्तिशाली साहित्य गोष्ठियो का उदय। साहित्य के विकास मे साहित्यिक वातावरण का एक विशेष महत्व होता है। उन्नीसवी शताब्दी मे फ्रास और अन्य पाश्चात्य देशों की साहित्यिक प्रगति मे इन गोष्ठियो का एक महत्वपूर्ण योग रहा है।"[9]

साही ने यूरोप के साहित्य से हिन्दी की तुलना करते हुए बताया कि यूरोप के साहित्य मे उनके राजधानी' का प्रभाव रहा है। इसके लाभ भी हैं, हानि भी। 'केन्द्रिय भाषा' में' विशेषीकरण और परिमार्जन की प्रगति तीव्र होती है इससे भाषा

मे निखार अवश्य आ जाता है, परन्तु साथ ही समरसता और सीमित क्षेत्र के कारण पतनोन्मुख पच्चीकारी का भी खतरा रहता है। उर्दू इसका दु खद उदाहरण है।"[10]

एक राजनैतिक कार्यकर्त्ता और साहित्यिक विचारक होने के नाते साही सत्ता और साहित्य के सम्बन्ध को अपने अनुभव से विश्लेषित करते रहते है।

साहित्य मे जब–जब राजनीति ने प्रवेश किया है साहित्य की गति मे गतिरोध आया है। 'हिन्दी साहित्य' मे राजनीति का हस्तक्षेप बराबर बना रहा। भक्तिकाल के कवि भी इस समस्या से जूझते रहे। आधुनिक काल में तीसरे दशक के बाद साहित्य मे राजनीति का प्रभाव अधिक बढा। मार्क्सवादी विचारिको ने साहित्य की विवेचना के बजाय मार्क्सवादी पाटी के एजेण्डे को साहित्य मे घोषणा–पत्र के रूप मे जगह दी। यह एक तरह की गुटीय राजनीति का साहित्यिक खेमावादी रूप है। खुद प्रसिद्ध प्रगतिशील विचारक अमृतराय का मानना है कि "हमारा आधार बिल्कुल संकुचित हो गया है और हम सभी नये और पुराने हिन्दी–लेखको से कटकर अलग जा पडे है और महज एक गुट बनकर रह गये है यह हमारी वामपक्षी सकीर्णता ही थी जिनके कारण हम आधुनिक हिन्दी सहित्य के निर्माण की मुख्यधारा से कटकर अलग जा पड़े।"[11] साही इसका कारण मानते है कि "वह प्रगतिशील न होकर दलानुशासित था, व्यापक सामाजिक मूल्यो के बजाय किसी विशेष दल की सामयिक नीति को साहित्य–सृजन का आधार मान बैठा।"[12]

साही ने बार–बार दलानुशासित साहित्य को 'साहित्य' के लिए एक बडा खतरा माना। मार्क्सवाद के सिद्धातों के आधार पर जब हिंदी साहित्य की रचना की जाने लगी, आलोचना के प्रतिमानो का निर्धारण किया जाने लगा तो साही की 'मनुष्य–नाभीय' आलोचक चेतना शक्ति ने इस बात का जबरदस्त विरोध किया। यद्यपि उनका यह विरोध भी एक खास किस्म के खेमावादी दृष्टिकोण का ही परिचायक था।

'रचनाकार और उसका परिवेश' साही की विवेचना का मुख्य बिन्दु है इसीलिए साही ने 'व्यक्ति' और परिवेश को अपनी आलोचना मे पर्याप्त महत्व दिया है। 'व्यक्ति' और 'परिवेश' पर बल देने का प्रयास लगभग सभी आलोचको ने किया

है। सत्य प्रकाश का मिश्र का मानना है कि "व्यक्ति और परिवेश सम्बन्धी दो दृष्टियॉ मनुष्य को आविष्कृत करने के क्षेत्र मे दुनियॉ के विचारको मे 18वी शताब्री से ही कभी एक पर और कभी दूसरे पर अधिक बल के साथ विद्यमान रही है।"[15] प्रसिद्ध समाजवादी राजनेता डॉ0 लोहिया परिवेश के दुगुर्ण तत्वो की पूँजीवाद, साम्यवाद और समाजवाद में उपस्थिति को हानिप्रद मानते है। गांधी जी पर विचार करते समय डॉ० लोहिया 'व्यक्ति–परिवेश' के ही सन्दर्भ मे कहते है "गांधी जी मे व्यक्ति पर अधिक और परिवेश पर कम बल देने की प्रवृत्ति है। यह भी महसूस किया जाना चाहिए कि समाजवाद मे परिवेश को अधिकतर और व्यक्ति को कमतर महत्व देने की प्रवृत्ति है। अगर विचारो के तार्किक विधान का तरीका निकलाना है तो दोनो पर समान जोर देना होगा।"[16]

'व्यक्ति और परिवेश'– जिसके अन्तर्गत मानव–समाज और उसका भौतिक जगत–अनुस्यूत रहता है और यही 'मनोभूमि' के निर्माण का स्थल है से साही समाज, व्यक्ति और उसमे 'साहित्य के सम्बन्ध के अध्ययन पर अपने को केन्द्रित करते है। 'परिवेश' और 'व्यक्ति' को लेकर हिन्दी आलोचना दो दृष्टियो मे विभाजित हो गयी। 'परिवेश' को बदलने का उपक्रम मार्क्सवादी विचारक करते रहे तो 'व्यक्ति' चेतना की वकालत अज्ञेय समर्थित विचारक। वैसे आधुनिक हिन्दी साहित्य मे 'परिवेश' और 'व्यक्ति' की स्थिति के दो महत्वपूर्ण बदलाव बिन्दु है। एक तो तब जब "आज से लगभग चार दशक पहले नये युग के उत्थान के साथ हमारे ऐतिहासिक व्यक्तित्व के प्रश्न को अपने सबसे अनगढ रूप मे मैथिलीशरण गुप्त ने पूछा था, लेकिन जिस आघात की यह प्रतिक्रिया थी, वह आघात वास्तविक था। भारत–भारती का आरम्भ इसी प्रश्न से होता है ·

हम कौन हैं, क्या हो गये थे,
और क्या होगें अभी
आओ विचारें आज मिलकर
ये समस्याएं सभी।"[17]

चार दशक की यात्रा के बाद न सिर्फ हमारा परिवेश बदला, बल्कि मनुष्य भी बदला। परिवेश और मनुष्य के बदलाव के कारण जो प्रश्न आज से चार दशक पहले प्रारम्भिक प्रश्न के रूप मे प्रस्तुत होता है चार दशक बाद का कवि अपना

प्रश्न अन्तिम रूप से प्रस्तुत करता है। साही ने भारत–भूषण अग्रवाल की कविता के माध्यम से मैथिलीशरण गुप्त के युग से अपने युग का अन्तर स्पष्ट किया।

"कौन–सा पथ है?

मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही ने पुकारा

कौन–सा पथ है? (भारत–भूषण अग्रवाल)

"'भारत–भारती' से 'नई कविता' तक एक बडा सफर है जिसमे न जाने कितनी मजिले पडी है। एक युग था जब मैथिली शरण गुप्त के लिए यह प्रश्न काव्य की प्रथम पक्ति थी। आज का कवि वहॉ अपनी कविता समाप्त करता है जहॉ पहले कवि ने आरम्भ किया था। इससे इन्कार नही किया जा सकता कि उसने हमारे इस अन्वेषण मे पूरी सफलता नही प्राप्त की है, परन्तु उस पर निषेध का आरोप भी नही किया जा सकता– क्योकि वह सही प्रश्न पूछ रहा है।"[18]

'राजनीति और साहित्य' साही के व्यक्तित्व के बहुमुखी आयाम रहे है। साही स्वय विशुद्ध राजनीतिक रहे है। राजनीति के लिए उन्होने सघर्ष भी किया है। कालीन बुनकरो को लेकर उन्होने जबरदस्त आन्दोलन चलाया, लोकसभा का चुनाव लडा। आचार्य नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, लोहिया से साही का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। साही के विचारो मे इनके प्रभाव को लक्षित किया जा सकता है। राजनेता और साहित्यकार होने के नाते साही ने 'राजनीति और साहित्य' के सम्बन्ध को पूरी ईमानदारी से टटोलने का प्रयास किया। 'तीसरा सप्तक' के 'कवि–वक्तव्य' मे अपने कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण को साही ने पच्चीस शीलों में व्यक्त किया है। 'आठवां शील' मे साही कहते है **"कविता को राजनीति में नहीं घुसना चाहिए क्योंकि इससे कविता का कुछ न बिगड़ेगा, राजनीति के अनिष्ट होने की संभावना है।**[19] समाज के उपरी कलेवर के बदलाव मे राजनीति का प्रमुख हाथ होता है। इसलिए राजनीति का विषय साही के लिए 'कविता' से अधिक महत्व का हो जाता है जब वे 'ग्वारहवा शील' मे कहते है –

"कविता से समाज का उद्धार नहीं हो सकता। यदि सचमुच समाज का उद्धार करना चाहते हैं तो देश का प्रधानमंत्री बनने या बनाने की चेष्टा कीजिए।"[20]

छठे दशक की हिन्दी आलोचना मे प्रगतिशील बनाम परिमल की टक्कर बराबर होती रही। साही तथाकथित 'जनवाद' की वकालत करने वाले साहित्यक आलोचको से बराबर टकराते है। विरोध इस स्तर पर करते है कि विचारधारा से युक्त मीमासा अर्थहीन होती। साही स्वीकारते है कि "साहित्य और समाज मे गहरा सम्बन्ध है, इस विषय मे कोई मनभेद सम्भव नही।"[21] पर जब वे और अधिक गहराई मे इस प्रश्न को लेकर उतरते है तो उन्हे समाज और उससे व्यक्ति का सम्बन्ध क्या है ? और उसकी अभिव्यक्ति से कोई कृति श्रेष्ठ या कमतर कैसे आकी जाती है ? आदि–आदि प्रश्नो से अपने को जूझते पाते है। साही की आलोचना की एक खास विशेषता रही है कि वे बराबर प्रश्नो को लेकर ही उधेडबुन करते रहते है, कोई उत्तर नही देते। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार "एक सही सटीक उत्तर तो अनिश्चित ही है।"[23]

अविराम बहसो मे साही ने बराबर मार्क्सवादी राजनीतिक दृष्टिकोण की भर्त्सना की है। 'पक्ष–विपक्ष' की इस मारधाड मे साही ने मार–धाड की ही शैली मे ही 'साहित्य और समाज' को लेकर जो उधेड बुन की है उसमे उनका निशाना तथाकथित समाज और साहित्य की दुहाई देने वाले प्रगतिशील विचारक है। जनवादी विचारको को रहस्यवाद की कसौटी में रखते हुए साही कहते है" रहस्यवाद दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमे साधक को सचमुच ज्ञात नही होता कि उनका प्रेय है क्या। वह केवल उसका आभास मात्र पाता है और भक्ति करता है। ऐसे रहस्यवादी हमारे संत थे यह ऋजु रहस्यवाद है। दूसरा रहस्यवाद वह होता है जिसमे साधक खूब अच्छी तरह से जानता है कि वह क्या चाहता है, किन्तु उसे साफ–साफ कहना शर्म या खतरे की बात समझकर शब्दों का आडम्बर खडा करता है। हिन्दी मे 'जनवाद' के प्रणेता, ये सामाजिक रहस्यवादी, इसी श्रेणी मे आते है।"[23]

हिन्दी आलोचना मे रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्थान दो ध्रुवात्तो के रूप मे है। प्रगतिशील साहित्य के विचारक रामचन्द्र शुक्ल को हिन्दूवादी यानी कि धर्मपूजक स्वीकार करते है–अपवाद के रूप में रामविलाश शर्मा है–तो हजारी प्रसाद द्विवेदी को मानव धर्मी चेतना के व्याख्याता के रूप में यानी की एक

प्रगतिशील विचारक के रूप मे। साही ने हजारी प्रसाद द्विवेदी के ही नजरिये से जनवादी साहित्यकारो के विचारो की कडी परीक्षा ली है। हिन्दी साहित्य[24] मे हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य मे अन्तर मानते हुए लिखा है कि ''नवीन आदर्श से चालित साहित्य का नाम 'प्रगतिशील' साहित्य है। इसी की एक निश्चित तत्ववाद पर आश्रित शाखा 'प्रगतिवादी' साहित्य है। 'प्रगतिवादी' शब्द व्यापक है, किन्तु 'प्रगतिशील' एक निश्चित तत्ववाद को सूचित करता है।''[25]

साही व्यग्यात्मक लहजे मे पूछते है कि ''यह प्रगतिशील साहित्य एक नवीन आदर्श से चालित है।'' 'नवीन' का एक ही अर्थ हो सकता है: यह आदर्श सन्तो मे नही था, भारतेन्दु युग मे नही था, द्विवेदीयुग मे नही था, छायावाद मे नही था। यूरोप मे भी शायद यह शेक्सपीयर, बालजाक, गेटे मे नही था। पोप और ड्राइन मे तो शायद नही ही था। न केवल नवीन ही, बल्कि इसने एक 'अधिक व्यापक और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया हैं। किसकी तुलना मे ? एक अर्थ तो यह हो सकता है कि आज तक के समस्त साहित्य की तुलना मे। दूसरा शायद यह है कि खडी बोली के आधुनिक साहित्य की तुलना मे। और तीसरा अर्थ जो सबसे सीमित है उसे ही माने, तब भी विचारणीय है कि ऐसा कौन सा आदर्श 'प्रगतिशील' साहित्यकारो ने प्रस्तुत कर दिया है जो समकालीन वे साहित्यकार नही प्रस्तुत कर सके है जो प्रगतिशील नही कहे जाते या कहलाया जाना पसन्द नहीं करते।''[26]

सत्ता से दूर विचारधारा का ही नही सत्ताप्रेम की विचारधारा का भी विरोध साही ने किया है। साही इसे साहित्य के लिए बहुत ही दु.खद स्थिति मानते है। साही इस बात से सहमत है कि सरकार लेखक की सहायता करे, किन्तु लेखक का यह कर्त्तव्य नही है कि वह सरकार की सहायता करे। लेखक जब तक समाज से जुडा रहता है, उसका सर्जनात्मक रूप उपयोगी होता रहता है लेकिन जब वह सत्ता से जुड जाता है, सत्ता के विचारों को ही अपनी भाव–भूमि मान लेता है तो वह प्रचारात्मक साहित्य का निर्माण करने लगता है, किसी सर्जनात्मक साहित्य का नही। साथ ही साही के लिए यह प्रश्न नैतिकता का भी है। वे कहते हैं कि ''रेडियों मे जाना चाहते है, शौक से जाइये। सूचना विभाग में नौकरी मिल रही है, शौक से करिये। लेकिन ईश्वर के लिए इस भुलावे को आश्रय न दीजिये कि वहॉ आप

जनमानस का निर्माण कर रहे है देश के प्रति या अपने प्रति लेखक का दायित्व पूरा कर रहे है। क्योकि कला, साहित्य, सस्कृति का विकास उन कविताओ , कहानियो, उपन्यासो, नाटको से होगा जो आप इस प्रकार आजीविका प्राप्त कर तथा समय बचाकर लिख पायेगे । इस भ्रामक घटाटोप को भी काटने का प्रयास किजिये कि लेखक की प्रतिभा का मानदण्ड यह है कि कितनी बडी नौकरी, या कितनी बडी प्रतिष्ठा उसे इन विभागो में मिल रही है।''[27]

साही के ये विचार छठे दशक की आत्मा को ही व्यजित करते है। मूलत इन विचारो को 'वाद-विवाद' के सन्दर्भ से देखा जाता है। पर विरोध का स्वर धीरे-धीरे 1957 के बाद कुछ नरम होने लगता है। ऐसा नहीं है कि 'मार्क्सवाद' के प्रति प्रेम या सत्तावादी राजनीति के प्रति प्रेम बढ जाता है। लेकिन साही इनके बाद साहित्य के विचारक अधिक लगने लगते है एक राजनैतिक विचारक नेता कम। मार्क्स से साही प्रभावित जरूर है लेकिन उसके साहित्यिक रूपान्तरण से नही। वैसे साही मे सबसे अधिक प्रभाव लोहिया का रहा है। लोहिया की समाजवादी दृष्टि का प्रभाव साही के 57 के बाद के आलोचना कर्म मे लक्षित किया जा सकता है। साही का आलोचना कर्म 'शमशेर का काव्यनुभूति की बनावट'[28] मे आकर नयी करवट लेता है। अब तक साही साहित्यिकार के परिवेश, आजीविका, साहित्यक वाद-विवाद मे ही अपने को सलग्न किये रहे, लेकिन 'शमशेर' तक आते-आते साही इन सभी तत्वो को अपने मे पचाकर नयी भाव-भूमि पर अपने खडा करते है।

'शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट' में साही ने शमशेर की कविता के सन्दर्भ से हिंदी कविता में आये बदलाव को लक्षित करने का प्रयास किया है। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार '' शमशेर पर शायद पहला विस्तृत, व्यवस्थित और उत्तेजक निबन्ध जो शमशेर की दुरूह कविताओ की व्याख्या की दृष्टि से चर्चा मे रहा है और शमशेर की काव्य प्रक्रिया पर सार्थक सटीक टिप्पणियो के कारण भी।''[29]

साही ने शमशेर को न सिर्फ भारतीय हिदी कविता की जातीय धारा का कवि माना है बल्कि उनकी कविता मे एक तरह की विडम्बना का तत्व भी ढूढा है।

यूरोपीय साहित्यकार 'मालार्मे' मे भी बहुत कुछ ऐसा ही था। साही मालार्मे के बारे मे कहते है कि " जितने गहरे मालार्मे को यह विश्वास जकडता जाता था कि चारो ओर भौतिक जड जीवन के अतिरिक्त और कुछ 'भी सत्य नहीं है, उतना ही काव्यानुभूति के लिए आवश्यक अतिक्रमण उसे असम्भव दिखता था। सृजन–प्रक्रिया स्वयम् मे ही एक विशाल व्यर्थता का प्रतीक लगती थी। मालार्मे के पास इस अपाहिज विडम्बना का एक ही हल था लिखा ही न जाय। 'सृष्टि' के प्रति नफरत और नितान्त न कुछ का बजर–प्रेम। कविता के जन्म मे ही निषेध का तीर बिधा हुआ है।"[30]

'निषेध का तीर' साही को शमशेर मे भी मिलता है। निषेध का तात्पर्य साहसी के लिए सकोच के रूप मे आशय है। सकोच को 'सिमटना' मानते हुए साही कहते है कि "कविता सिर्फ जन्म ही नही लेती, वह कवि से अलग होकर एक सार्वजनिक अस्तित्व ग्रहण करती है। जन्म और अस्तित्व, काल–क्षण और काल–प्रवाह के बीच एक दरार है। शून्य से नितात न कुछ से, कविता का जन्म होता है – इस गति मे शायद रूकावट नही है, लेकिन जन्म लेते ही एक प्रतिगति भी सक्रिय होती है । शमशेर की कविता मे एक प्रतिगति है , शून्य, उसी न कुछ में वापस चले जाने की।"[31]

साही शमशेर को सौन्दर्य का कवि मानते है । शमशेर ने स्वय दूसरा सप्तक के व्यक्तव्य मे लिखा है "सुदरता का अवतार हमारे सामने पल छिन होता रहता है। अब यह हम पर है कि हम अपने सामने और चारों ओर की उस अनंत और अपार लीला को कितना अपने अदर घुला सकते है।"[32] साही शमशेर की इस उक्ति को महत्वपूर्ण मानते हुए कहते है "तात्विक रूप से शमशेर की काव्यानुभूति सौन्दर्य की अनुभूति है।"[33] शमशेर की तुलना छायावाद से करते हुए बल्कि यों कह लें कि नयी कविता और छायावाद के अन्तर को स्पष्ट करते हुए साही कहते है "जिन लोगों का ख्याल है कि छायावाद के बाद हिदी कविता ने सौन्दर्य का दामन छोड दिया है, उन्होने शायद शमशेर की कविताओ का आस्वादन करने का कष्ट कभी नही किया। मै एक कदम और आगे बढकर कहना चाहूँगा कि आज तक हिन्दी मे विशुद्ध सौन्दर्य का कवि यदि कोई हुआ है तो वह शमशेर है।"[34]

साही ने विस्तार से शमशेर के काव्य शिल्प, खासकर बिम्बो पर विचार किया है। उन्हे 'बिम्ब' का कवि न मानकर 'बिम्बलोक' का कवि माना है। बिम्ब और 'बिम्बलोक' मे अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते है कि साही "यह उसी तरह का अन्तर है जो विष्णु और विष्णुलोक मे है।"[66] और "शमशेर की कविता मे घिरे हुए असीम को बिम्ब की बिम्बात्मकता नही उसकी बिम्बलौकिकता भरती है। अन्तिम रूप मे शमशेर की काव्यानुभूति बिम्ब की नही बिम्बलोक की अनुभूति है। इसी का निर्माण वे बार–बार करते है और विविध बिम्बो के बावजूद एक ही कविता लिखते हैं।"[36]

'नई–समीक्षा' 'भाषिक–विश्लेषण' की समीक्षा है। नई समीक्षा के आलोचक साही का मानना है कि शमशेर ने अपनी कविता मे बिम्बो के साथ सधे हुए शब्दो का प्रयोग किया है। सधे हुए शब्दो का महत्व धीरे–धीरे उन्हें मौन की स्थिति मे ले जाता है। यह एक तरह से अर्थशक्ति का द्योतक है। साही के अनुसार शब्दो का पाश जो टूटा है या शब्द मे जो नयी अर्थशक्ति आयी है वह हिन्दुस्तान मे पहली बार नही आई है। "शब्द की अर्थशक्ति मे इतना बडा परिवर्तन हिन्दुस्तान मे एक बार और हो चुका है जब गुमनाम ध्वनिकार ने व्यजना शक्ति का आविष्कार किया। उस समय शब्दो के पास टूटने की अनुभूति हुई होगी।"[37]

ध्वनिकार से शमशेर की सबद्धता में साही का उद्‌देश्य यह रहा कि वे शमशेर ही नही, नयी कविता को हिन्दुस्तान की पुरानी उपलब्धियो के सन्दर्भ में ही देखने का प्रयास करते हैं। वे आज की कविता की समस्या को उसी रूप में पाते है जैसा ध्वनिकार के समय मे रही होगी। इसका तात्पर्य यह नही है कि साही पुनरुत्थानवादी आलोचक है। साही साहित्य की समझ के लिए पूर्व–प्रचलित मानदण्डो को नये सन्दर्भ से देखने की वकालत करते है। इसीलिए साही जोर देते है कि "नयी कविता को ठीक–ठीक देखने के लिए नयी कविता के प्रतिमान की जरूरत नही है, बल्कि कविता के नये प्रतिमान की जरूरत है।"[38]

कविता के लिए नये प्रतिमानों की खोज हिदी आलोचना में अलग–अलग सन्दर्भों से की गई। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नयी कविता के प्रतिमान' मे कविता के प्रतिमानो को ही खोजा। यह अलग बात है उनका पूरा जोर 'नयी कविता' के

सन्दर्भ मे रहा। प्रतिमानो की खोज कुल मिलाकर कविता की ही खोज है। कविता का जब रग, रूप बदल गया, भाषा का स्तर दुहरा हो गया तो प्रतिमान क्यो नही बदले। क्या ऐसी कोई धारणा हो भी सकती है, कोई पैमाना हो सकता है जिसमे कालिदास भी उपस्थित हो, तुलसी भी, शमशेर भी? नामवर सिह ने 'कविता के प्रतिमान' मे जिन प्रतिमानो को खोजा वक्तव्य मे प्रतिमान की खोज का निषेध है – क्या उनसे छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद, नयी कविता को नापा जा सकता है? 'प्रतिमानो की खोज की दृष्टि से साही का प्रबन्धात्मक लेख 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस[39] (छायावाद से अज्ञेय तक)' एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। साही ने इस प्रबन्ध निबन्ध मे विस्तार से छायावाद से लेकर अपने समय तक की कविता की जॉच पहचान की है। द्वितीय विश्वयुद्ध एक तरह से 'मनुष्य' के अस्तित्व को सकट मे खडा कर देता है। साहित्यिक जगत में इसी सन्दर्भ से 'लघुमानव' की वकालत शुरू हो गयी। इतिहास के पन्नों मे इस का कोई जिक्र तो नही मिलता लेकिन साहित्यकारो के लिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न हो गया, राजनैतिक दृष्टि से, सामाजिक सन्दर्भ से और परिवेश की दृष्टि से। 'लघुमानव' की स्थापना का श्रेय हिंदी साहित्य मे विवेचना के स्तर पर लक्ष्मीकान्त वर्मा को है। 'लघुमानव' को केन्द्रित करते हुए साही ने इसे सिर्फ द्वितीय विश्वयुद्ध की उपज नही माना। उनका मानना है कि लघु–महत् मानव के बजाय 'सहज मानव' की स्थापना ज्यादा उचित है। प्रश्नवाची आलोचक साही कहते है कि "क्या 'लघुमानव' की मृत्यु हो गयी? .... क्या 'लघुमानव' की कल्पना ने आज के साहित्यिक कृतित्व की रूपरेखा समझने मे कोई मदद की या सिर्फ यह एक कौतूहलपूर्ण आग्रह बनकर रह गया? बहुत कुछ ये सारे प्रश्न 'शव–परीक्षा' जैसे लगते है।"[40] साही ने पूरे लेख मे लघुमानव की 'शव–परीक्षा' ही की है। जब प्रश्न लघु का होगा तो महामानव का भी उठेगा पर साही लघु और महत के बीच सहज 'मनुष्य' की अवधारणा पर अपने को केन्द्रित करते है। लेकिन यह सहज मनुष्य सम्पूर्ण मनुष्य नही है। साही का मानना है कि मनुष्य 'उपलब्धि और सम्भावना' दोनों का मिश्रण है। और "देश–काल–विपन्न प्रतिक्षण, सर्जित, विसर्जित मानववादी भी मनुष्य को उस 'अनन्त' को जो सम्भावना का विस्तार है, कम से कम भविष्य मे फैला हुआ देखता है। और

जो मनुष्य को मूलत देश कालातीत 'सत्य' मानते है वह तो उसकी पकड मे न आने वाली अनन्ता का ढिढोरा पीटते ही है।"[41]

साहित्य मे इन सभी तत्वो को उद्घाटित करना ही आलोचना है, इसीलिए साही का मानना है कि आलोचना "कृति की सवेदना को जबरदस्ती खीचकर पाठक तक पहुँचाना नही है। आलोचना सिर्फ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक या धारणात्मक पूर्वग्रह जाने या अनजाने अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण, पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोके रहे है, जहाँ से काव्य का प्रभाव प्रवाहित हो रहा है उन्हे विनष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था मे छोड दे।"[42]

आलोचना के लिए यह निर्धारित मानदण्ड कितना निश्चित मानदण्ड है, यह बहस का विषय है लेकिन स्वय साही के लिए यह निर्धारित प्रतिमान है। इसी मानदण्ड से साही 'लघुमानव' की शव परीक्षा मे 'सहज मनुष्य' को व्याख्यायित करने का प्रयास करते है। साही का मानना है कि "मनुष्यता की पूर्णता केवल एक सम्भावना हो सकती है यथार्थ नही। यथार्थ है सहज मनुष्य। वह कोई भी हो सकता है।"[43] इसलिए 'लघुमानव' भी 'सहज मनुष्य' है। 'सहज मनुष्य' वैज्ञानिकता की दृष्टि से भले ही अपरिभाषेय हो लेकिन सृजनात्मकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह और बात है कि 'सहज मनुष्य' को साहित्य पकड नही पाता वह केवल उस केन्द्रित कालबद्ध जाल मे फसी हुई सीमित झलक को पकडता है जहाँ से वह केवल आभासित हो सकता है।

इसी निबन्ध में साही आलोचना को साहित्य का दर्शनशास्त्र कहते है। तात्पर्य यह कि आलोचक मे विवेकसम्मत दार्शनिकता का होना आवश्यक है। इसी विवेक सम्मत दार्शनिकता से साही 'छायावाद' पर विचार करते है। गॉधी वादी युग जिसे साही सत्याग्रह युग से सम्बोधित करते है का सम्बन्ध छायावादी कविता से मानते हुए कहते है कि "छायावाद के कवि परिवर्तनवादी है लेकिन मेटाफिजिक्स, मनुष्य देशकालातीत अनन्त सत्व के प्रभामण्डल का दामन नही छोडते। मेटाफिजिक्स छायावाद के लिए चिन्तन या अनुभव की विद्या उतनी नहीं है जितनी

की एक काव्यात्मक मुद्रा।"[44] 'छायावाद' मे साही ने आदर्श और महत् की झलकिया देखी, नही उनके लिए महत्व का विषय है।

आदर्श और महत् की झलकियॉ राजनीति के भी क्षेत्र मे रही है। यह एक तरह से नाटकीयता को प्रदर्शित करती है। इसलिए साही सत्याग्रह युग को 'विराट नाटकीयता' का युग मानते है। नाटकीयता का चित्रण रूपक मे करते हुए साही कहते है "कहॉ है वह युग, जब एक सटीक शेर पर दिल्ली का कत्लेआम बन्द हो जाता था, जब एक राखी की याद पर सल्तनते लुट जाती थी, जब वह एक लाठी की मार पर अग्रेज अफसर आफिस क्लर्क को तरक्की देता था, जब वह एक लडकपन की याद पर गुण्डा आखिरी गोली तक जीवित रहने की प्रतिज्ञा करता था, जब एक झोपडी की दृढता पाण्डेयपुर की सिगरेट फैक्टरी को चुनौती देती अडिग खडी हो जाती थी? लघु और महत् की यह नाटकीय विराटता कहॉ है? इतिहास रथ की उडी हुई धूल मे पीछे, बहुत पीछे"[45]। 'आदर्श और महत्' के सन्दर्भ में गॉधी जी को जोडते हुए साही गॉधी का महत्व इस दृष्टि से आंकते है कि "गॉधी जी हिन्दुस्तान की जिन्दगी के Rhythm की अभिव्यक्ति थे, इतनी पूर्णता के साथ जो उस युग मे किसी और को प्राप्त नही थी और आगे भी किसी को हो सकेगी कहना कठिन है।"[46]

साही की आलोचना शैली की विशिष्टता रही है कि वे पूरे युग को सन्दर्भित करने का प्रयास करते है और युग की मनोभूमियॉ जिसमे राजनीतिक भी है, विचारक भी है, समाज भी है, मनुष्य भी है की 'आन्तरिक लय' को पकड़ने की कोशिश करते हैं। हिन्दी भाषी क्षेत्र के साहित्यकारों के व्यक्तित्व को साही भौगोलिक कारको से व्याख्यायित करते हैं।

हिन्दी के हृदय प्रदेश 'उत्तर प्रदेश' को साही हिन्दुस्तान का एक ऐसा सूबा कहते है "जहॉ बगाल की पुरवैया भी आती है और पश्चिम की पछुआ भी।"[47] साही ने पर्यावरण के आधार पर हिन्दी की प्रकृति को समझने की चेष्टा की है। यह कार्य हिन्दी आलोचना के लिए एक महत्वपूर्ण कारक है।

साही की एक अन्य विशेषता रही है वर्तमान का भूत मे फैलाव। इसी फैलाव से साही कालिदास और प्रेमचन्द्र को एक साथ देखते है क्योकि दोनो की दृष्टियॉ यथार्थ को उसके मूल चरित्र से देखने की पक्षपाती रही है कालिदास की यथार्थ दृष्टि है, "निरकम्प, निश्चल प्रकाश जो मालवा की पहाडियों, उद्दलती हुई नदियो, मथुरा की गभीर जमुना फूलो को पानी देती हुई वन कन्या, धूल उडाते हुए रथ, सोधी मिट्‌टी पर बरसते हुए पानी यहॉ तक की मानदण्ड की तरह फैले हुए समुचे हिमालय पर एक सरीखा नवम्बर की धूप की तरह नरम, लेकिन तटस्थ पडता है।"[48] यही दृष्टि तुलसी, सूर की भी है और प्रेमचन्द्र, प्रसाद की भी। यह सच है कि एक ही राष्ट्रीय परिस्थिति मे शरतचन्द्र आते है, प्रेमचन्द्र और प्रसाद भी, लेकिन शरतचन्द्र और प्रेमचन्द मे दृष्टि अन्तर यथार्थ दृष्टि–भेद के कारण ही है। "कहने मे जैसा भी विरोधाभास लगे– प्रेमचन्द्र की ऑखे कालिदास के अधिक निकट है। होशोहवास की दुरूस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि निराला और प्रसाद भी कदम नहीं रखना चाहते। शरत् बाबू के देवदास की तरह प्रसाद के ककाल का विजय भी आदिम भावनाओ द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशो का सफर नही करता जहॉ से बगाल के लेखक की यात्रा शुरू होती है।"[49]

छायावाद जिसे साही 'सत्याग्रह युग' से सन्दर्भित करते है और उस युग के आदर्श और महत् को विराट नाटकीयता' का युग मानते है, और इस युग को एक सतुलन का नाटक' स्वीकार करते है। क्योकि इसमे भिन्नता के साथ–साथ दार्शनिकता नाटकीयता और नैतिक तथा कल्पनात्मक स्वर्णलोको का विशिष्ट अनुपात है। ये सभी तत्व आपस मे मिलकर यथार्थ और आदर्श, लघु और महत् के सम्बन्ध के प्रति एक विशेष दृष्टि देते है। छायावादी कवियो की यथार्थ के प्रति अपनी एक दृष्टि है और "वे यथार्थ को मूलत: अपरिभाषित, निर्माणतुर अविरोधी कच्ची और गीली मिट्‌टी की तरह देखते है जिस पर आदर्श की कोई मुहर लगाई जा सकती है।"[50]

'सत्याग्रह युग' अपराजेय सकल्पता का भी युग रहा है और यही अपराजेय सकल्पता ही जब उसकी विवशता हो गई तो हिन्दी कविता में एक नया मोड

आया। उत्तर छायावाद की शुरूआत यही से होती है। छायावाद की राजनैतिक पृष्ठभूमि मे गॉधी थे तो उत्तर छायावाद मे 'नेहरू'। 'नेहरू की आत्मकथा' का हवाला देते हुए साही ने इस काल की 'मनोभूमि' को समझने की चेष्टा की है। साही के अनुसार "हिन्दी के तीसरे दशक की ओर ही ध्यान केन्द्रित करे, जहॉ उपरी ढॉचा वैसा ही रहते हुए भी, भीतर से 'मनोभूमि' मे परिवर्तन आ गया। भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, दिनकर, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी नरेन्द्र शर्मा आदि ने वह आरम्भ किया जिसे आलोचको ने छायावाद का दूसरा दौर कहा है। इसे हम छायावाद का शेषाश भी कह सकते हैं या 'नयी कविता' का आरम्भ भी।"[51] समग्रतावादी आलोचक साही ने छायावाद और नयी कविता को अलग–अलग दृश्यो मे देखने के बजाय उसे हिदी की वर्तमान काव्यधारा की मे विकसित होना स्वीकारते है।

तीसरे दशक के मानव को 'सहज मानव' के रूप मे स्वीकार करते हुए साही का मानना है कि बच्चन की मधुशाला का 'यात्री', भगवतीचरण वर्मा का बीज गुप्त या दिनकर का कभी रस खोजने वाला, कभी अगारो पर चलने वाला 'आदमी' ये सभी 'सहजतया' 'साधारण मानव' ही है।

गॉधी इरविन समझौते से उपजी भारत मे विराटरिक्ततता जिसे नेहरू ने अपनी आत्मकथा मे विशेष रूप से सन्दर्भित किया है का सम्बन्ध तीसरे दशक की उत्तर छायावादी कविता के साथ जोडते हुए साही का मानना है कि 'विराटरिक्तता' पूरे युग की मनोभूमि रही है। उत्तर छायावादी कवियों ने इस रिक्तता का उत्तर देने का प्रयास किया जिसका परिणाम 'सहज मानव' के रूप मे मिलता है। छायावादी मनोभूमि जिसमे आध्यात्मिक, नैतिक कल्पनाशीलता, राजनैतिक तत्वो का समावेश था उत्तरछायावाद मे उसे लबादे की तरह उतार फेंका गया और इस युग के कवियों ने एक खास–भाव–भूमिका को निर्मित किया जिसकी पृष्ठभूमि में बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन, सुभद्रा कुमारी, नरेन्द्र शर्मा, अचल, शिवमंगल सिंह सुमन आदि का 'खुमारी और जवानी का काव्य' है। साही का मानना है कि छायावाद से उत्तरछायावाद और उत्तरछायावाद से नयी कविता का सम्बन्ध एक ही धरातल पर निर्मित होता है। "छायावादी कलाकृति मूलत. एक विस्फोट करता हुआ

कला रूप है– जैसे केन्द्रीय अर्थ फूटकर चारो ओर क्रमश. विलीन होता हुआ बिखर रहा हो। तीसरे दशक की कलाकृति उसे विस्फोट की तरह नही, बल्कि एक लहर की तरह निर्मित करती है – जिस प्रयास मे महादेवी से लेकर बच्चन तक के गीत निर्मित होते है। नयी कविता उस तरग के रूप को एक स्ट्रक्चर' मे बदल देती है, जैसे हीरे का क्रिस्टल हो।"[52] इसीलिए लघुमानव की अवधारणा भी छायावाद उत्तर छायावाद, नयी कविता मे बदलती रहती है। "छायावाद मे उसका रूप लघु की महानता है, तीसरे दशक मे लघु की महिमा का है और उसे बाद की कविता मे लघु के महत्व का है।"[53]

छायावाद और नयी कविता के सम्बन्ध को आपस मे जोडते हुए 'प्रसाद और अज्ञेय' को एक साथ देखते हुए साही का निष्कर्ष है कि "दर्शन और अनुभूति को घुलाने के लिए अज्ञेय वही से आरम्भ करते है जहॉ प्रसाद ने छोडा था। प्रसाद और अज्ञेय की समानता अचरज मे डालती है। वही शलीनता, वही शब्दो की चौकसी, वही अभिजात्य और वही कुछ खुला हुआ कुछ डूबा हुआ व्यक्तित्व।"[54]

अज्ञेय को हिन्दी साहित्य मे पश्चिम का डाकिया स्वीकार किया जाता रहा है लेकिन साही अज्ञेय को हिन्दी काव्यधारा की ही उपज मानते है। साही का यहॉ तक मानना है कि 'हिन्दी साहित्य का स्रोत जो लोग हिन्दुस्तान के बाहर खासतौर से अग्रेजी मे खेजने की कोशिश करते है, वे यदि छोटी मुॅह बडी बात न लगे तो कहना चाहूॅगा, इसी कारण करते है कि उसका ज्ञान अग्रेजी साहित्य के बारे मे थोडा है।"[55]

साहित्य क्यों ?

साहित्य क्यो ?[56] मे साही के '1965 से 1979' के बीच लिखे गये निबन्धो का सकलन है। 'आमुख' मे कचनलता साही लिखती है "इस सग्रह मे संकलित लेख 1965 से 1979 के बीच लिखे गये इसमें हम साही जी के चिन्तन की 'छठवा दशक' के बाद की कडी प्रस्तुत करते है।"[57] इस सग्रह मे कुल नौ लेखो को लिया गया है। 'छठवा दशक' से 'साहित्य क्यो?' मे साही की दृष्टि हमेशा समाज, परिवेश, लेखकीय व्यक्तित्व के इर्द गिर्द घूमती रही है। मार्क्सवाद का विरोध भी जहॉ–तहॉ बराबर बना हुआ है लेकिन साहित्य की समझ मे समाज, परिवेश, व्यक्ति के बीच

एक आन्तरिक लय बनती दिखती है, कुल मिलाकर इस निबन्ध संग्रह मे साही की आलोचना दृष्टि समाजशास्त्रीय रही है।

बीसवी शताब्दी मूलत यात्रिकता की शताब्दी रही है। भौतिक यात्रिक, वैज्ञानिक उन्नति जिसमे मनुष्य का चन्द्रमा पर पहुँचना, साथ ही साथ मनुष्य के जीवन स्तर मे उन्नति इस शताब्दी की मुख्य बडी उपलब्धि रही है। यात्रिकता और वैज्ञानिकता के मोहपाश से युक्त जीवन मे साहित्य की आवश्यकता क्या है? जैसे प्रश्न उठते है जिससे साही बारम्बार टकराते है। 'लघुमानव के बहाने हिदी कविता पर एक बहस' मे साही का कथन है कि "बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देश काल मे परिभाषित करना साहित्य की जिम्मेदारी है।"[58] इसलिए यह प्रश्न और महत्वपूर्ण हो जाता है कि क्या वैज्ञानिक, यात्रिक, कुल मिलाकर भौतिक युग मे साहित्य अपनी जिम्मेदारी निभा रहा है? साही बेचैन होकर पूछते है "बीसवी शताब्दी ढल रही है। इसका अवसर आ गया है कि हम थोडा तटस्थ होकर देखें क्या इस सारे कुहराम मे कोई अर्थ रहा है? इतिहास की इस कभी उत्तेजित कभी हताश गति मे क्या कोई ऐसी रूपरेखा रही है, जो याद किये जाने योग्य हो?"[59] सवाल पर दूसरा सवाल साही की प्रश्नवाचक मुद्रा की एक बडी विशेषता रही है। साही इसी क्रम मे आगे कहते है "अलग–अलग दिशाओ मे खिचती हुई यह चरमराती हुई कोशिशे, यह गति और प्रतिगति, बढते हुए पानी के उपर मुँह निकाले रहने की छटपटाहट, मनुष्य को मानवीय बनाने की असभावना और साथ–साथ व्यापक सृजनशील कर्म मे अवसन्न आस्था – साहित्यिक सृजन के ये सारे सदर्भ किस तरह दीखेगे। क्या इतिहास मे हमे क्रान्ति के मोह में पडी हुई शताब्दी की तरह याद किया जायेगा, जिस तरह आज हम उन्नीसवी शताब्दी को प्रगति के मोह से आविष्ट शताब्दी के नाम से पुकारते है?"[60] साही का मानना है कि जब तक हम इन प्रश्नों से नही टकरायेगें साहित्य क्यो? का प्रश्न भी बराबर अनुत्तरित रहेगा।

रचनाकार की व्यैक्तिक रचना धर्मिता को साही बार–बार महत्व देते हैं यही वयैक्तिक रचनाधर्मिता ही रचनाकार के सृजनशीलता के क्षण मे उसकी रचनात्मक इमानदारी और रचनात्मक विवशता दोनो को सदर्भित करती है। इसलिए साही का

मानना है कि "मै जितना भी, सबकी अनुभूति को भी समेटने की कोशिश करता हूँ तो अतत उसका निचोड आकर के तो मेरी इस समग्रता मे ही आता है न ?"[61]

समाज के उपरी कलेवर मे परिवर्तन हेतु राजनीति को कविता से अधिक महत्व देने की बात साही ने तीसरा सप्तक मे स्वीकारी थी। साही के लिए यह स्वाभाविक भी था चूँकि राजनीति और साहित्य का अन्तर कालबद्ध होता है इसलिए साह इसे कालावधि मे न देखकर समसमायिक सन्दर्भ से देखते है। 'हमारे समय में' साही राजनीति और साहित्य के 'काल' मे अन्तरस्पष्ट करते हुए कहते है कि "अधिकाशत राजनीतिक ढग के जो कर्मठ होते है वे इसी शब्दावली मे बात करते है कि कल जो हम कर पायेगे उसके नाम पर आज हम जो कुछ भी कर रहे है क्षम्य है। ठीक है लेकिन क्या लेखक के लिए यह रास्ता सम्भव है? क्या वह अतीत की ओर या भविष्य की ओर दोनो ओर वर्तमान से नितान्त निरपेक्ष होकर, अपने समय से नितान्त निरपेक्ष पलायन करके भागकर अपनी अर्थवत्ता को खोज सकता है, तलाश कर सकता है।"[62] इस दृष्टि से देखा जाय तो राजनीतिक व्यक्ति के लिए समसामयिक समय केवल साधन का कारक होता है साध्य नही। वह छत पर खडा होकर सीढी की उपयोगिता को देखता है लेकिन लेखक पहली ही सीढी से अपनी अनुभूति को जोडता है समसामयिक सन्दर्भ से भविष्य को। तात्पर्य यह कि लेखक के लिए काल का फैलाव मुख्य होता है। "इस क्षण जो मै हूँ जो कल मै आया, कल मैं जाऊँगा, वहीं मै इस समय हूँ अपनी स्मृति और अपनी अभिलाषा दोनो को लिए हुए। तो मै अपने को इस प्रकार अपने अनुभव को समेकित करता हूँ, एकत्र करता हूँ, तो जाहिर है कि भविष्य, अतीत और वर्तमान यह सब चाहे मेरे चारो तरफ का समाज हो, मेरे पिता हो कम से कम मै अपने ढग से यह बात कह सकता हूँ, वे मेरे लिए चाहे स्मृति की शकल बनकर आवे चाहे अभिलाषा की शकल मे आये तो अतत यह समस्त घटनाये मेरे आतरिक चेतना जाल का अग ही बन करके आती है।"[63] इसी चेतना मे भूत–भविष्य–वर्तमान तीनो एक साथ उपस्थित रहते है।

'पुनर्मूल्यांकन. किस आधार पर मे साही का मानना है कि अपने पीछे का हर मूल्याकन पुनर्मूल्याकन नही होता है। पुनर्मूल्याकन मे एक झंकार होती है जिससे

साहित्य के सभी सम्बन्ध झकृत हो उठते है और इसीलिए सिर्फ कालान्तर से पुनर्मूल्याकन नही हो सकता।" साही का मानना है कि "मै आज 1967 मे जीवित हूँ अत जायसी के बारे मे जो कुछ 1927 मे कहा गया उससे मतभेद व्यक्त करूँ या 1927 मे निर्मित समस्त रिश्तो को तोड डालूँ सिर्फ इसलिए कि तब से चालीस वर्ष बीत गये। सिर्फ कालान्तर अपने आप मे पुनर्मूल्याकन का प्रमाण नही हो सकता।[64]

चूँकि इतिहास से हमे वह दृष्टि मिलती है जिसके आधार पुनर्मूल्याकन किया जाता है इसलिए इतिहास के साथ हमारा सबन्ध सिर्फ सत्य के आधार पर होना चाहिए। तात्पर्य यह कि 'सत्य' ही पुनर्मूल्याकन के यथेष्ट है। साही के अनुसार "पुनर्मूल्याकन की यह अनिवार्य जिम्मेदारी नही है कि वह हर पुराने दृष्टिकोण का खण्डन करे। वस्तुत नये पुराने की जगह पूनर्मूल्यांकन पुराने–पुराने की ओर जाकर अपने सम्बन्ध बना सकता है। लेकिन समूचे इतिहास के साथ उसके सम्बन्ध की परिभाषा मे सत्य की व्यजना बराबर रहेगी।"[65]

'धर्म निरपेक्षता की खोज मे हिन्दी साहित्य और उसके पडोस पर एक दृष्टि'[66] मे साही की, लम्बी बहस अनवरत चलती रहती है। साही धर्म निरपेक्षता को दो भागो मे बाटकर कर देखते है–समान दूरी वाली और समनिरर्थकता निरर्थक वाली धर्मनिरपेक्षता साही ने समान दूरी वाली धर्म निरपेक्षता और समान निरर्थकता वाली धर्मनिरपेक्षता दोनो को पर्याप्त महत्व देते हुए और अपने अनुभव से मध्यकाल के दबाव को आधुनिक सदर्भ से देख है। इसी काल के फैलाव मे ही साही को कालिदास और फिरदौसी मध्यकाल मे सम्भावना की तरह झलकते है "और बीच के मैदान में हिदी भाषी उत्तर भारत का काव्य जन्म लेता है।"[67]

भाषा का महत्व सास्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। मध्यकाल से ही भारत मे दो सास्कृतिक हिन्दू–मुस्लिम के बीच तनाव बराबर बना रहा है। इस तनाव को दूर करने मे साही के लिए लोकभाषा का महत्व मध्यकाल में इस दृष्टि से है कि लोकभाषा ही आधार बिन्दु हिन्दू, मुस्लिम की एकता के लिए। साही के अनुसार कुछ ऐसा है जिससे हिन्दू मुस्लिम के बीच खाई पट जाती है। यही सब मिलकर हिदी भाषा का मिजाज बनाती है और इसी वजह से भक्तिकाल पूरा का

पूरा मिजाज बहुधर्मी हो जाता है। मध्यकाल के बहुधर्मी समाज मे धर्म से ज्यादा महत्व 'मानुष' की स्वतन्त्रता का रहा है। बहुधर्मी समाज मे एक तीसरी धर्म निरपेक्षता भी सभव है। साही कहते है कि "कबीरदास को हम क्या कहे? धर्मांध या धर्म निरपेक्ष? इस तरह पूछने पर फौरन लगता है कि सिर्फ दो चौखट्टे काफी नही है। और भी होने चाहिए।"[68]

'जायसी' का महत्व इसी सास्कृतिक एकता की दृष्टि से प्रतिपादित करते हुए साही का मानना है कि "जायसी कबीर से भिन्न है। वह अपने इस्लाम मे दृढ है। लेकिन अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा को चुनते है। यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता तोडते है।"[69] सास्कृतिक तत्वो की एकता की खोज जायसी के लिए चुनौती थी फिरदौसी की तरह। ईरानी साहित्यकार फिरदौसी की इस्लामधर्म मे अस्था थी लेकिन उसमे राष्ट्रीय चेतना धर्म से अधिक थी। जायसी मे भी यही तत्व है। साही के लिए फिरदौसी के शाहनामे का महत्व दूर से झलकने वाली मोहिनी चचल लोकगाथा से अधिक है। इसकी महत्ता इस सन्दर्भ मे और बढ जाती है कि इसमे धर्मान्धता के विरूद्ध बहुत पहले धर्म निरपेक्ष समन्वय को राष्ट्रीयता की थरथराहट के साथ प्रस्तुत करने की कोशिश की गई थी। यही स्थिति जायसी की भी है इसलिए साही को जायसी मध्यकाल मे श्रेष्ठ लगते है।

हिदी आलोचना मे रीति काल को 'अन्धकार युग' के नाम से जाना जाता है। लेकिन साही इस काल को 'भाषा' की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते है। क्योंकि "ब्रजभाषा कवियो ने सबसे बडा कमाल यह किया कि जब एक ओर राजनीतिक एकता टुकडे–टुकडे हो रही थी उन्होने आज जो हिन्दी भाषी क्षेत्र कहलाता है, इस पूरे खित्ते के लिए बडे मनोयोग से एक सर्वमान्य भाषायी माध्यम निर्मित कर डाला।"[70]

तीसरा सप्तक का पच्चीसवॉशील है अवज्ञा परमोधर्म।[71] इतिहास और परम्परा का सम्बन्ध इस सूत्र से जुडता है।

इतिहास की गति से परम्पराये टूटती है अगर नही टूटती तो बदल तो अवश्य जाती ही है। 'परम्परा और इतिहास' में साही का मानना है कि "जैसे–जैसे

परिवर्तन की गति तेज होती जाती है, परम्परावाद या तो कमजोर होता है, या अपनी शक्ल बदल लेता है।"[72] इसी क्रम में विचार करते हुए साही परम्परा और परम्पराओ मे तात्त्विक अन्तर मानते है। साही के अनुसार "इतिहास मे हमे परम्पराओ के दर्शन होते है और उनका मतलब भी समझ मे आता है। लेकिन यह एक वचन 'परम्परा' तत्ववादी दर्शन की उपज है। अगर सबको आत्मसात् करने वाली परम्परा जैसी कोई चीज है भी तो वह काल–प्रवाह या ऐतिहासिक निस्तरता का ही दूसरा नाम होगी।"[73]

साही ने बार–बार युगीन पृष्ठभूमि को उसके राजनीतिक सन्दर्भ से देखता है, परम्पराओ के ही सदर्भ से साही भारत–पाक के बॅटवारे पर विचार करते हुए कहते है "भारत–पाकिस्तान बॅटवारे के पीछे भी परम्पराओ की जकड बन्दी है, दिमागी तौर पर सर्वथा परम्परायुक्त, सृजनशील आत्म विश्वासी संवेदा के विकसित न हो पाने की विफलता है।"[74] यही नही बल्कि "भारत–पाकिस्तान विभाजन धार्मिक विफलता नही है, गहरे स्तर पर सास्कृतिक विफलता है। जिन्ना से लेकर अयूब खॉ तक का नेतृत्व इस्लाम धर्म के बूते पर नही है (क्यो कि वे धार्मिक नेता नही है) बल्कि मुस्लिम सस्कृति के नाम पर है।"[75] इस दृष्टि से साही समाजवादी आलोचक की मुद्रा मे अधिक लगते है। "भारतीयता के साथ–साथ मनुष्य की नाभिकीय चेतना को केन्द्र मे रखकर साही एक लम्बी बहस पर सबको आमत्रित करते है। एक लम्बी बेचैनी सी लगती है साही के चिन्तन मे।

लोकतन्त्र की कसौटियाँ

'लोकतन्त्र की कसौटियॉ'[76] मे साही के राजनैतिक लेखो का सग्रह है। साही के व्यक्तित्व के दो पहलू है। एक तरफ वे साहित्यकार, अध्यापक हैं तो दूसरी तरफ वे सोशलिस्ट पार्टी के नेता। कालीन बुनकरो को लेकर संघर्ष करने वाले उनके रहनुमा। 'साहित्य और राजनीति' जैसे दो विपरीत ध्रुवों को आपस मे मिलाने का काम साही का है। इसमे टकराहट होती है तो उसका प्रभाव विचार के स्तर होता

है जिससे साहित्य की विचार भूमि और अधिक उर्वर ही होती है उसके बदले राजनीति का क्षेत्र उसर हो जाय तो हो जाय कोई फर्क नहीं पडता।

भूमिका मे साही की मनोवृत्ति का उद्घाटन करते हुए प्रसिद्ध समाजवादी विचारक 'मधुलिमये' कहते है, "साही जी की दृष्टि केवल राजनीतिक नहीं थी। राजनीति को वे मौलिक परिवर्तन का एक अग मात्र मानते थे। लेकिन साही जी की ऐसी मान्यता थी कि समाज परिवर्तन के सास्कृतिक तथा साहित्यिक आयाम भी महत्वपूर्ण है।"[77] भूमिका मे ही मधुलिमये कहते है कि 'एक बार साही जी से पूछा गया कि राजनीतिक कार्यकर्त्ता तथा मजदूर नेता होने में और शुद्ध बौद्धिक होने मे क्या आप कोई अन्तर्विरोध नही देखते ? तब साही जी ने कहा· नही । सारी बौद्धिक जिज्ञासा का तान यही टूटता है कि वैचारिक और व्यावहारिक आचरण मे सामजस्य कैसे स्थापित किया जाये। हर जागरूक बुद्धिजीवी को हमेशा इस खतरे से बचना चाहिए कि वह हाथी के दॉत वाली मीनारो का जीवन बनकर न रह जाये। उसके लिए यह जरुरी है कि वह एक व्यावहारिक आचरण का निर्वाह करके कथनी और करनी मे सतुलन स्थापित करे।"[78]

साही ने कम से कम अपने को इसी संतुलन की पृष्ठभूमि मे तैयार किया। उनके विचारो मे कहीं भी अतिवादिता नही मिलती। अतिवादिता इस दृष्टि से की वे जब भी साहित्य की बात कर रहे होते है, तब भी राजनीति के चालू मुहावरे – सब चलता है – से अपने को दूर रखते है। लगातार बहसो, प्रश्नो पर प्रश्नो की एक लम्बी झडी भले ही पाठको को बौद्धिक आतक से डराती हो लेकिन कही भी साही नक्सलवादी कम्युनिस्ट की भूमिका मे नही मिलते हैं। मिलते है तो सिर्फ गॉधीवादी विचारक की भूमिका मे।

वर्धमान और पतनशील

'वर्धमान और पतनशील'[79] निबन्ध सग्रह मे साही के उन निबन्धो का सग्रह है जो पहले सग्रहो मे नही शामिल थे। कचनलता साही के अनुसार "साही जी के वे लेख जो समय–समय पर पत्रिकाओ आदि मे प्रकाशित हुए है लेकिन साही जी के

एकल सकलनो 'छठवादशक' 'साहित्य क्यो?' और लोक तन्त्र की कसौटियो मे शामिल नही है"।[80] कुल पन्द्रह लेखो का यह सग्रह है।

'नई समीक्षा' के आलोचक साही ने 'भाषा' के सम्बन्ध मे इस निबन्ध सग्रह के कई निबन्धो मे विचार व्यक्त किया है। 'भाषा' को लेकर साही का चिन्तन शुरू से ही चलता रहा है। छठवादशक के 'अग्रेजी शब्दो का प्रयोग और अभिव्यजना की कुछ समस्याएँ' की अगली कडी मे साही ने इन निबन्धो मे विचार व्यक्त किया है।

नई कविता के दौर मे हिन्दी मे अग्रेजी शब्दो का चलन बढने लगा था। कुछ लोग इसे पश्चिमी प्रभाव के रूप मे ग्रहण कर रहे थे। वैसे अग्रेजी शब्दो का चलन हिन्दी मे 'नई कविता' के दौर मे ही हो रहा था यह सच नही है लेकिन रूढि का सामना नई कविता' को ही करना पडा। दरअसल हमेशा नई चीज को आधुनिक हिन्दी मे पश्चिमी प्रभाव से ग्रस्त मानने की परिपाटी रही है। साही जी के अनुसार "जब जब हिन्दी कविता मे नया दौर आया, पुरानी कविता के अभ्यस्त लोगो ने आरोप लगाया कि पश्चिम का प्रभाव घुसता आ रहा है। भारतेन्दु से लेकर अब तक यही हुआ।"[81]

हिन्दी कविता की भाषा मे पिछले सौ वर्षों मे तीन महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। "एक तो तब जब कविता की भाषा ब्रजभाषा की जगह खडी बोली बनी। दूसरे तब जब इस भाषा मे छायावाद ने प्रवेश किया और काव्यभाषा अधिकाधिक सस्कृतगर्भित होती गई। तीसरे आज से लगभग तीस–पैतीस बरस पहले जब छायावाद की काव्यभाषा से असंतुष्ट होकर कवियो ने नये प्रयोग शुरू किए और एक नये ठेठपन का जन्म हुआ।"[82]

हिन्दू सस्कृति की तरह हिन्दी भाषा की सबसे बडी विशेषता यह रही है कि बाहर से आये बहुत से शब्द उसमे पच गये। लेकिन हिन्दी कविता में अंग्रेजी के बहुत से शब्द पच नही पाये जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी भाषा द्विभाजिकता का शिकार हो गयी।

द्विभाषी होने से भाषा की सृजनात्मकता प्रभावित होती है। क्योंकि "इस द्विभाषी वातावरण का असर हमारी बोल–चाल की भाषा पर ज्यादा व्यापक पडता है। आज जो हम हिन्दी बोलत है उसमे अगेजी शब्दो की इतनी भरमार होती है कि उसे हिन्दी न कहकर 'हिग्रेजी 'कहना ज्यादा ठीक होगा। एक तरह से हिन्दी अभी अधूरी ही है। हिन्दी कौन बोलता है? जो लोग अगेजी नही जानते लोक बोलिया बोलते है, जो खडी बोली बोलते है उनमे से अधिकाश हिग्रेजी बोलते है।"[83]

शब्दो का अति प्रयोग कभी–कभी काव्यधारा के रूढि मे परवर्तित हो जाता है। इसीलिए अज्ञेय ने नारा दिया कि हमे शब्दो के चयन मे नयापन लाना चाहिए क्योकि बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है। अवज्ञा परमोधर्म के सिद्धान्त पर साही का मानना है कि 'ऐसे बहुत से शब्द है' जो बहुत पहले से ही काव्यभाषा मे प्रयुक्त हो रहे है क्या वे घिस गये और हमारे पास ऐसा कौन सा नपना है जिससे नापा जा सके कि ये शब्द बासी, पुराने है और ये शब्द नये। चूँकि भाषा का सृजनात्मकता के साथ अनुस्यूत सम्बन्ध होता है इसलिए जो साहित्यकार समाज से जीवन्त सम्पर्क नही बना पाता है उसकी भाषा चाहे कितना ही नयी क्यो न हो बासी हो जाता है। बहुत से शब्द है जो जन्मते ही मर गये आरिवर ऐसा क्यों हुआ। क्योकि इनकी जीवन्तता समाज से जुडी नही थी। धर्मवीर भारती की अनछुई, अनकही, अनसुनी वाली शब्दावली क्या जन्मते ही समाप्त नही हो गयी।"[84]

इसलिए 'काव्यभाषा' के प्रतिमान के लिए हमे भक्तिकाल की तरह अपनी सम्भावना तलाशनी चाहिए "इस नये स्तर के लिए हमे तुलसीदास और सूरदास से बहुत कुछ सीख सकते है। काव्यभाषा की केन्द्रिय गति हमें वही मिलेगी।"[85] भाषा का महत्व साहित्य के लिए सबसे महत्व का विषय होता है। भाषा अगर अवमूल्यित होती है तो इसका मतलब साहित्य भी अवमूल्यित हो रहा है। क्योकि "भाषा अपने आप मे अर्थवत्ता रखती है यह स्वय हमारी अनुभूति को उजागर करती है हमको अर्थवान बनाती है।"[86]

'नयी समीक्षा' के आलोचक होने के नाते साही के चितन मे काव्यभाषा का महत्वपूर्ण स्थान है। 'वर्धमान और पतनशील' मे साही ने एक नये भाव–बोध से

काव्यभाषा पर विचार किया। साही का मानना है कि जनता के बीच वैचारिक और भावात्मक टकराहट से नई भाषा का जन्म होता है। कोशों मे गढी गयी भाषा की मृत्यु उसके जीवन्त सम्पर्क से वचित हो जाने के कारण होती है। शब्दो मे नया अर्थ रचनाकार भरता है न कि कोशकार। हिन्दी मे बढते अग्रेजी शब्दो को लेकर साही इसे एक तरह की आचलिकता के स्वर मे पहचानते है और इसे मुख्य धारा से कटा हुआ मानते है। "ये प्रयोग एक तरह के आचलिक प्रयोग है या अक्सर हूबहू–यथार्थ चित्रण की चिन्ता से उपजते है। कुल मिलाकर हूबहू–यथार्थ चित्रण अथवा आचलिकता किसी साहित्य की मुख्यधारा नही हो सकती।"[87]

साही ने आंचलिकता को बृहत्तर सन्दर्भों से देखा है। उसे सिर्फ सामाजिक या भौगोलिक अचल के रूप मे नही। 'वाणभट्ट की आत्मकथा' को इतिहास के अचल के रूप मे स्वीकार किया तो नदी के द्वीप को महानगरीय आचलिकता के रूप मे। साही के अनुसार "आचलिकता दृष्टि और वर्णनशैली मे, शब्दावली के आपसी रिश्ते मे निहित है।"[88]

नदी के द्वीप को आचलिक मानने का कारण इसलिए है कि "आचलिकता सिर्फ खेतो, खलिहानों, कस्बो या पहाडी इलाको मे ही हो ऐसा नही है। एक तरह की आचलिकता हमे महानगरो मे, कनाट–प्लेस, चौरगी–चौपाटी मे, कहवाघरो, होटलो क्लबो मे भी प्राप्त होती है। खेत–खलिहानी, कस्बाई, पहाडी आचलिकता अपने साथ नाना प्रकार की ग्राम्य, कस्बाई, पहाडी शब्दावली लाती है। जिसे वह कथा साहित्य मे या लोक गीतो का समा बॉधने वाली 'आचलिकता' कविताओ मे उँडेल कर चुक जाती है। .महानगरीय आचलिकता, या आजकल की उदीयमान उक्ति हिन्दुस्तानी–अग्रेज समुदायो की आचलिकता अपने साथ अग्रेजी शब्द, मुहावरे और वाक्य लाती है। इसका महत्व भी खेत खलिहानी–कस्बाई–पहाडी आचलिकता से अधिक नही है, या शायद उससे भी कम है, क्योंकि इन अंग्रेजी प्रयोगो के मुख्य धारा मे खप जाने की गुजायश और भी कम है।"[89]

आचलिकता के ही सन्दर्भ मे हिन्दी कथा क्षेत्र मे एक विवाद चला गॉव बनाम महानगर। 'अलग–अलग वैतरणी' की समीक्षा करते हुए साही ने कथा आलोचक के

लिए एक प्रतिमान की स्थापना की है। साही का मानना है कि "कथाकार होने का दावा करने वाले के लिए, उपन्यास की कसौटी पर चढना जरूरी है। खासतौर से तब जब दावा लम्बे, चौडे इन्कलाब से जुडा हुआ हो। गम्भीर आलोचना मे उपन्यास के मुकाबले मे कहानी का अध्याय निश्चय ही छोटा होगा।"[90]

'अलग–अलग वैतरणी' को निर्मल वर्मा के 'वे दिन', राही के 'आधा गॉव', नरेश मेहता के 'यह पथ बन्धु था' के साथ रखकर साही का निष्कर्ष है कि "बीसवी सदी को खण्ड–खण्ड करके देखना अपने को एक दिमागी भवर मे डाल देना है। बीसवी सदी के कमल, कीचड से अलग नही किये जा सकते। अब इस दृष्टि भ्रम का अन्त होना चाहिए, क्योकि यह यूरोप की उन्नीसवी सदी की दिमागी विरासत से उपजी हुई चीज है। करैता मैनहाटन से कम बीसवी सदी की उपज नही है।"[91]

लेखक की सृजनात्मकता के सन्दर्भ मे साही का मानना है कि "हमे, यह स्वीकार करके चलना होगा कि आज के मानवीय महानाटक के लिए और उसका साक्षात्कार करने वाले लेखक के लिए करैता जैसे लाखो गावों को भूल जाना, या उसका कोई अनुभव ही न होना, एक बडा सृजनात्मक अभाव है।"[92]

प्रेमचन्द के 'गोदान' मे साही को ऐसी ही 'सृजनात्मकता' की झलक मिलती है। साही ने प्रेमचन्द के 'गोदान' को उनके अन्य उपन्यासों से श्रेष्ठ इसलिए माना कि 'गोदान' मे प्रेमचन्द ने 'यथार्थवाद' का दृष्टि के रूप मे उपयोग किया है। "प्रेमचन्द ने अपने अन्य उपन्यासों में यथार्थवाद को कल्पित आदर्श या सुधार के रूप मे देखा लेकिन 'गोदान' का यथार्थवाद उपयोग की वस्तु नहीं है, वह एक दृष्टि बन जाता है, जिसके भीतर मानव का केन्द्रीय प्रश्न उठता हुआ दिखता है। इसीलिए 'गोदान' अन्य उपन्यासो से भिन्न भी है, श्रेष्ठतर भी।"[93]

सास्कृतिक दृष्टि से भाषा मे उर्दू–हिन्दी का विवाद एक समस्या के रूप मे है। हिन्दी–उर्दू का विवाद बीसवी शताब्दी के पूर्वाद्ध का सबसे उत्तेजनापूर्ण विवाद रहा है। दरअसल समस्या तब खडी हुई जब हिन्दी हिन्दू का उर्दू मुसलमान होने का पयार्य हो गयी। 'हिन्दी उर्दू को पास लाने की कोशिश' में साही ने इस विवाद को केन्द्र मे रखकर उसके सभी स्थितियो का आंकलन करके यह निष्कर्ष निकाला

है कि "सबसे दुर्भाग्यपूर्ण और बेतुकी बात जो इस विवाद मे हुई वह हिन्दी और उर्दू की पहचान का हिन्दु मुस्लिम सम्प्रदायो के साथ नत्थी हो जाना था।"[94]

'हिन्दी–उर्दू' की समस्या को समाधान के लिए साही ने पॉच सूत्रीय विचार सुझाया है।"[95]

(क) उर्दू के महान साहित्यकारो को वैसे ही साहित्य के इतिहास का अग बनाना चाहिए, जैसे ब्रजभाषा के महान लेखको को।

(ख) उर्दू को हमारी सास्कृतिक विरासत का वैसे ही भाग बन जाना चाहिए जैसे ब्रजभाषा।

(ग) उर्दू को वैसे ही सूख जाने देना चाहिए जैसे ब्रजभाषा।

(घ) हिदी माध्यम का चयन साहित्यिक कारणो से होना चाहिए न कि भावुकता के आधार पर।

(ड) हिदी माध्यम का चयन साहित्यिक कारणो से होना चाहिए न साहित्यिक बचकाने पन का चिन्ह समझकर उससे बचना चाहिए।

साहित्य और साहित्यकार का दायित्व

'वर्धमान और पतनशील' मे साही ने कहा है कि "साहित्य का विस्तृत अध्ययन आदमी की ऑख खोलता है। कभी–कभी हमको ऐसा अभास होता है कि जिस कर्म को हमने बहुत न्याय और सत्य का साक्षी देकर किया था, उसके कारण जिनकी हानि हुई वे सचमुच मे मनुष्य थे, और उनके मन मे भी न्याय और सत्य की वैसी ही धाराणाऍ थी। तब हम तिलमिला जाते है – लेकिन जाने अनजाने मनुष्य की परिभाषा हमारे लिए बढ जाती है। जब–जब हम मनुष्य की परिभाषा बढाते है, हमारा कुटुम्ब विस्तृत होता जाता है साहित्य का एक बहुत जरूरी काम यह है कि मनुष्य और उसकी अनुभूतियो की इस परिपाटी ग्रस्त परिभाषा को बराबर विस्तृत करता चले।"[97] 'लघुमानव के बहाने हिदी कविता पर एक बहस' मे साही लिख चुके

थे 'बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देशकाल मे परिभाषित करना साहित्य की जिम्मेदारी है।' अपने उपर्युक्त कथनो को विस्तृत करते हुए 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' – जो साही के अनुसार मूलत एक ही चीज है–साही एक नई स्थापना देते है। साहित्य और साहित्यकार के दायित्व के लिए साही चार चेतनाओ मे देखते है।" 1 सामाजिक चेतना 2 पारिवारिक चेतना 3 मानवीय चेतना 4 ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना और इन्ही चारो स्तरो पर एक साथ लेखक का दायित्व बनता है।"[99]

इन चार स्तरो मे प्रभाव का क्रम कभी किसी का रहता है, कभी किसी का लेकिन चारो स्तरो का प्रभाव हमेशा होता रहता है। अगर इनमें से किसी एक ही चेतना का सम्बन्ध रहा तो उसकी परिणति भिन्न हो जायेगी – साही के अनुसार साहित्यकार "केवल ब्रह्माण्ड चेतना पकडेगा तो बाबा लोगो का चेला हो जायेगा। केवल प्रेम वाली पकडेगा तो सिनेमा का गीतकार हो जायेगा। अगर केवल समाज चेतना पकडेगा तो किसी न किसी पार्टी का समर्थक हो जायेगा।"[99] चूँकि साहित्यकार का दायित्व 'मनुष्य' को उसके सम्पूर्णता मे तराशना होता है इसलिए चारो चेतनाओ से साहित्यकार को युक्त होना चाहिए।

साही ने उपर्युक्त स्थापना करके लेखक को एक साथ कई मोर्चे पर लडने वाला सिपाही बताया। चूँकि लेखक का दायित्व समाज के अन्य वर्गों से अधिक महत्व का है और अन्य वर्गों की अपनी सीमा रेखा होती है, इसलिए लेखक का यह दायित्व है कि वह गंभीरता से अपने कत्तर्व्य का पालन करे क्योकि लेखक ही है जो "परिवर्तन को आवश्यक गम्भीरता देता है और समाज के अन्तिम लक्ष्यो के साथ निरन्तर हमारे परिवर्तन की गति को जोडता है।"[100] कमला प्रसाद के अनुसार, "विजयदेव नारायण साही आलोचक के रूप मे जीवन भर यह समझने की कोशिश करते रहे कि साहित्य का उद्देश्य क्या है ? वे चाहे 'साहित्य क्यों? ' लघुमानव के बहाने कविता पर एक बहस' 'सत्ता और सस्कृति', 'जनवादी साहित्य' मे से कोई निबध लिख रहे हो या 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' विषय पर व्याख्यान दे रहे हो वे साहित्य से अपनी अपेक्षा ही खोजते रहे। लिखते या बोलते हुए वे सबोधक कम, खोजी ज्यादा लगते है।[101]

जायसी

साही की खोजी प्रवृत्ति उन्हे मध्यकाल के कवि 'जायसी' तक ले जाती है। 'जायसी' साही की आलोचनात्मक प्रतिभा का सबसे बडा देय है न सिर्फ साहित्यिक मनिषियो के लिए, पाठको के लिए बल्कि काल से परे जाकर 'काल' मे अन्वेषण करने वालो के लिए। परमानन्द श्रीवास्तव के अनुसार "इस पूरे आलोचनात्मक सघर्ष की एक अधिक सार्थक फलश्रुति है उनकी कृति 'जायसी' जिसे हम 'एक मध्यकालीन कवि का आधुनिक कवि के रूप मे आविष्कार' कह सकते है।"[102]

'धर्म निरपेक्षता की खोज मे' साही जायसी के बारे मे लिखे चुके थे कि "जायसी कबीर से भिन्न है। वह अपने इस्लाम मे दृढ है। लेकिन अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा को चुनते है। यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता तोडते है। पद्मावत मे वह मानवीय प्रेम के उस रसायन का आवष्किार करते है जो मनुष्य को मुट्ठी भर धूल से उठाकर 'बैकुठी' बनाता है।"[103]

'जायसी' की खोज मे साही का यह प्रस्थान बिन्दु है। अपने बेबाक तीक्ष्ण, शोधपरक दृष्टि से साही ने न सिर्फ 'पद्मावत' को परखा, बल्कि 'जायसी' और 'पद्मावत' के उपर हिन्दी आलोचना की जो विचारधारात्मक धूल जमी थी उसे भी साफ किया।

साही ने आलोचना की चली आती परिपाटी से अलग हटकर नये स्वर से 'जायसी' और 'पद्मावत' को देखा है। जायसी के ही रूपक मे साही कहते है "बार–बार दूर वन खड से आकर मै इस जायसी रूपी कमल की वास लेता हूँ। हर बार एक नई सुगंध मिलती है।'[104]

साही ने 'जायसी' मे कुछ नई मौलिक स्थापनाये की है। जैसे पद्मावत सूफी काव्य नही है, पद्मावत की कथा को जायसी की मौलिक उद्भावना के रूप मे स्वीकार करना–इतिहास परक मानने से इन्कार करना। जायसी को हिन्दी का पहला विधिवत कवि मानना। पद्मावत को भारत का पहला ऐसा ग्रन्थ मानना जो यूनानी ट्रेजडी के काफी निकट है।

दिल्ली विश्वविद्यालय मे 'रामचन्द्र शुक्ल और जायसी' विषय पर बोलते हुए साही ने रामचन्द्र शुक्ल की जायसी सम्बन्धी व्याख्याओ की विशेषता बताते हुए कहा कि "अकेले ग्रियसर्न के या पडित सुधाकर द्विवेदी के बूते का काम नही था कि जायसी को लगभग गुमनामी से उठाकर हिदी के शीर्ष पर पहुँच देते। यह कार्य शुक्लजी ने किया।"[105] शुक्ल जी के इसी काम को आगे–बढाया है विजय देव नारायण साही ने। यह अलग बात है कि साही के निष्कर्ष शुक्लजी से भिन्न जान पडते है।

साही ने 'पद्मावत' को सूफी ग्रन्थ नही माना। साही जायसी के 'कविरूप' पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते है। साही ने साहित्य के आस्वादन के लिए किसी विचारधारा से सहमत होना आवश्यक नही माना है। पद्मावत के कथानक मे 'सिह–ललोक' तथा 'इतिहास लोक' के द्वन्द्वपरक एव परस्पर पूरक सम्बन्धो को प्रदर्शित कर साही ने एक नई व्याख्या की, "सतह पर इतिहास लोक अपनी बाहरी दुनिया मे पर्याप्त है और सिंहल लोक अपनी आन्तरिकता मे स्वत. सपूर्ण है। लेकिन तत्वत वे अलग नही रह सकते। वे एक दूसरे को बराबर बेधते रहते हैं और एक गहरी ट्रेजडी को जन्म देते है।"[106]

साही ने अपने विवेचन से हिदी आलोचना के उस कुहरे को साफ किया जिसे रामचन्द्र शुक्ल, माताप्रसाद गुप्त, परशुराम चतुर्वेदी, वासुदेव शरण अग्रवाल नही कर पाये थे। जायसी को हिन्दी का पहला विधिवत कवि मानने के पीछे साही का तर्क है "लगता है कि समूची अवधीभाषा कविता ही है जो जायसी की कलम से अपना स्वरूप ग्रहण करती चलती है। जब भाषा मे इस तरह की अपनी स्वत स्फूर्ति गति दिखे तो हम बेखटके समझ सकते है कि हम एक बडे कवि के सामने उपस्थित है।"[107]

जायसी में शब्दो की अद्भूत अनेकार्थता और खंडित संदर्भो को घुला–मिलाकर एकाकार करने की अद्भूत अपार क्षमता है। ऐसा ही साही को फिरदौसी मे भी नजर आता है। फिरदौसी ने 'शाहनामा' में अरबी शब्दों का बहिष्कार कर फारसी भाषा के पुराने और प्रचलित शब्दो को नवीन 'धार्मिक –

सास्कृतिक सदर्भो मे प्रयुक्त किया जिससे ईरानी समाज के साथ–साथ, फारसी कविता की सृजनात्मक मे वृद्धि हुई। "अवधी के ठेठ शब्दो के धडल्ले प्रयोग से जायसी एक जातीय सास्कृतिक उन्मेष पैदा करते है जो सत कवियो या मुल्ला दाऊद, मझन या कुतुबन जैसे प्रेममार्गी कवियो द्वारा सम्भव नही हो सका था।[108] जायसी की विशिष्टता इसी मे है कि उन्होने धार्मिक, सास्कृतिक शब्दावली को अवधी की महीन ठेठ भाषा मे घुला–मिलाकर पचा लिया।

साही कहते है कि "जायसी का कहना है कि दूर–दूर से लोग कीर्ति सुनकर उनकी कविता की सुगन्ध लेते है, लेकिन पास के मेढक उनकी प्रतिमा से बेखबर है। ये पास के मेढक कौन है ? अगर जायसी ने पद्मावत जायस मे लिखी तो ये मेढक जायस वाले है।"[109]

भॅवर आई बनखंड हुति लेहि कॅवल कै बास ।
दादुर बास न परवहिं भलेहिं जे आछाहिं पास।।

जायसी के ऐसे तमाम कथनों को उद्धृत करके साही ने 'निरमलभावो से भरी कविता' को सही अर्थो मे समझने समझाने का प्रयास किया है। दरअसल साही की मूल चिता यही थी कि 'पद्मावत' को तसव्वुफ के घेरे से मुक्त रखा जाय। हिन्दुओ और मुसलमानो दोनो मे ही प्रसिद्ध लेकिन मध्यकाल ही नहीं बल्कि रीतिकाल बल्कि उन्नीसवी शताब्दी तक जायसी का कोई जिक्र नही। 'जायसी के बारे मे ऐसी दहाडती चुप्पी क्यो? इसीलिए साही का मानना है कि "हम अच्छी तरह उधेड बुन करके अपने को पूर्वग्रहो के जाल से मुक्त करें, ताकि जायसी को समूचे उनके सम्पूर्ण सृजनात्मक कृतित्व के साथ देख सकें। हमारी प्रतिबद्धता तसव्वुफ के प्रति नही है। हमारी प्रतिबद्धता जायसी की कविता के प्रति है।"[110]

माता प्रसाद गुप्त के द्वारा 'तन चितउर मन राजा कीन्हॉ' छन्द को प्रक्षिप्त सिद्ध करने के पहले हिदी आलोचना मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर परशुराम चतुर्वेदी तक विभिन्न विश्लेषको ने 'पद्मावत' को रूपक या अन्योक्ति परक काव्य माना। माता प्रसाद गुप्त ने प्रबल प्रमाणो के आधार पर उपर्युक्त पंक्तियो को क्षेपक सिद्ध कर दिया। अपनी भूमिका में गुप्त जी ने लिखा है कि "इस छंद को प्रमाणिक मान लेने के कारण जायसी के रूपक निर्वाह के विषय में शुक्लजी ने और उनके

पीछे के जायसी के समस्त आलोचको ने कितना बडा वितडावाद खडा किया है।" उपर्युक्त पक्तियो को सदर्भित करते हुए साही कहते है "लेकिन डा0 गुप्त ने एक कदम और आगे बढकर यह प्रश्न नही पूछा कि यदि रूपक कथित अथवा कथित, धराशायी हो जाता है तो पद्मावत को सूफी मत का ग्रन्थ मानने का क्या औचित्य रह जात है?"[111] गुप्तजी ने भले ही यह प्रश्न नही पूछा, लेकिन साही ने अपने विवेक से, हिदी आलोचना के जायसी सम्बन्धी वितडावाद को निरसित करके, जायसी के पद्मावत मे एक विशेष जीवन दृष्टि के साथ सामाजिक सास्कृतिक समन्वय को प्रस्तुत किया।

साही का मानना है कि जायसी एक आत्मसजग, आत्मविश्वासी साथ ही अत्यन्त सवेदनशील व्यक्ति थे। जायसी के अनुभूति में वह गहराई थी, जिससे सृजनशीलता और मनुष्यता का सम्बन्ध बनता है। साही ने पद्मावत के आधार पर बार–बार जायसी को कवि मानने का ही सुझाव रखा। क्योंकि जायसी और पद्मावत को सूफी घेरे मे रखने से न तो जायसी का मूल्यांकन हो पाता है और न ही पद्मावत का और न वह सास्कृतिक–सामाजिक रूप ही उभर पाता है जो कि जायसी का अभिप्रेत था।

साही ने जायसी के व्यक्तित्व और अतरगता की खोज मे जायसी के अन्त साक्ष्य का सहारा लिया है। जायसी के चार मित्रो और मोह भंगिनि प्रेमिका को लेकर साही ने जायसी के 'कवि' रूप को रेखाकित किया है। साही का मानना है कि जायसी का कवि स्वभाव एक बौद्धिक कवि का है – सूफी सन्त या बैरागी बाबा का नही। अगर जायसी सूफी है तो डॉ० लोहिया के शब्दो मे कुजात सूफी हैं।

जायसी के कृतित्व और रचनात्मकता को प्रदर्शित करने के लिए साही को 'पद्मावत' के उपसहार का यह स्थल महत्वपूर्ण लगता है :–

"मुहम्मद यहि कवि जोरि सुनावाः सुना सो प्रेम पीर गा पावा

जोरी लाइ रकत कै लेई गाढ़ी प्रीति नैने जल भेई

औ मन जानि कबित अस कीन्हाः मकु यह रहै जगत मंह चीन्हा

. . .आदि

साही को इन पक्तियो का अर्थ चचल आवर्तन की तरह लगता है और "लगता है जैसे सारी कथा, सारी घटनाएँ सारे चरित्र–सब के सब अपनी भूमिका निभाकर विलीन हो गए और हमारे सामने सिर्फ जायसी का उघरा हुआ मर्म, बिना किसी अन्तर्पट के उपस्थित हो गया। हमारा काम है कि इस मर्म का निर्बाध और सम्पूर्ण साक्षात्कार करे।"[112]

उपसहार की ही अन्तिम पक्तियो –

"विरिध सो सीस डोलावैं, सीस धुनैं तेहि रीस।
बूढे आढ़े होहु तुम केइँ यह दीन्ह असीस।"

का मर्म उद्घाटित करते हुए साही कहते है "एक तरफ विशाल छविमय कल्पना –ससार है जिसकी कथा जायसी ने सुनायी और दूसरी तरफ इसको जोडने वाली वह सृजनात्मक अनुभूति है जिसे जायसी ने अपने रक्त की लेई कहा। इस रक्त की लेई मे सचमुच कितना खून देना पडा है, इसका मूर्तिमान प्रमाण उपस्थित करने के लिए कहानी की अन्तिम किरण उस सर हिलाते निचुडे हुए वृद्ध पर डाली गयी है जिसका नाम भी मलिक मुहम्मद जायसी है।"[113]

इस बूढे अलक्षित जायसी की खोज मे साही को निराला की इन पक्तियो की याद आ जाती है –

स्नेह निर्झर बह गया है
रेत ज्यों तन रह गया है।

साही की आलोचना मे उनका 'कवि पक्ष' न सिर्फ 'जायसी' की कविता का मर्म उद्घाटन करने मे सहायता करता है, बल्कि आलोचना की भाषा को भी समृद्ध करता चलता है। साही का जायसी के 'कवि–व्यक्तित्व' के सन्दर्भ मे निष्कर्ष है कि "वेश से बिल्कुल रूखा–सूखा है, लेकिन उसके भीतर एक धूल लपेटा हुआ माणिक्य है। जब वह कलम उठाता है तो धूल उड जाती है और भीतर का माणिक्य दिप–दिप करने लगता है। अमृत की वर्षा होने लगती है। इस बूढे को ध्यान से देखे। वह चमत्कारी बाबा नही है, साधारण मनुष्य है। सूफी शेख नहीं है, कवि है"[114]

डॉ० माता प्रसाद गुप्त के द्वारा रूपक के तौर पर इस्तेमाल छन्द को क्षेपक सिद्ध करने के बावजूद विद्वानो ने पद्मावत मे प्रेम की पीर, विरह की तड़प और पद्मावती को विश्व व्यापक ज्योति के रूप मे इगित करने को लेकर तसव्वुफ से जायसी का सम्बन्ध जोडते चले आज रहे थे। साही ने इसका विरोध कर जायसी मे ऐसे बहुत से तत्वो को तथ्यो के आधार पर खोजकर दिखाया है जो सूफी आन्दोलन के घेरे मे नही आता। इसके लिए उन्होने अमीर खुसरो और उसके ग्रंथ 'खजायनुल फतूह' व 'तारीखे–अलाई' को जायसी के साथ रखकर विवेचित किया और जायसी की जातीय सास्कृतिक दृष्टि को उभारा। खुसरो का इस्लामी कट्टरता, महजबी जुनून और फारसी सस्कृति का झडाबरदार होना, कुल मिलाकर उसके वर्णन का मुहावरा कट्टर साम्प्रदायिक है। खुसरो ने अलाउद्दीन के चित्तौड विजय का जो अनुभव प्रत्यक्ष लिखा वही पद्मावत के उत्तरार्ध की कथा है। लेकिन दृष्टि मे कितना फर्क है इसका प्रमाण है रणथम्भोर के किला के टूटने का वर्णन। खुसरो के लिए किला का टूटना इसलिए महत्वपूर्ण है कि वह "काफिरो के खून से धुलकर पृथ्वी को पाक होता देखता है ओर उल्लसित होकर इस साम्राज्यवादी सत्ता सघर्ष को इस्लाम की विजय मानता है। जौहर करती हुई स्त्रियों के अनार की तरह कठोर स्तन ही उसे दीखते है। इसके विपरीत जायसी उडती हुई दो मुट्ठी राख की तरह इस पृथ्वी विजय को झूठा देखते है और उनकी आवाज मे ट्रेजिडी, व्यग्य और एक गहरे विषाद का सम्मिश्रण है जो जायसी के इस्लाम और अलाउद्दीन मे गभीर अन्तर की अनुभूति प्रस्तुत करता है।"[115]

अपनी मूल प्रकृति में पद्मावत को साही ट्रेजडी मानते हैं। "शायद हिन्दुस्तान या सभवत एशिया की धरती पर लिखा हुआ यह एक मात्र ग्रन्थ है जो यूनानियो की ट्रेजडी के काफी निकट है।"[116] इस ट्रेजडी में जायसी के अनुभव की वह मानवीय अनुभूति है जिसके निकट समस्त आध्यात्मिक दर्शन बराबर प्रांसगिक और अप्रासगिक हो जाते है। साही का मानना है कि "तसव्वुफ की शब्दावली हो, क्या हठयोग की ही क्या चारो ओर घटित होता हुआ राज्यो का उत्थान–पतन हो, क्या गॉवो से उठता हुआ बारह मासा हो, क्या काम शास्त्र की झलक देता हुआ रति वर्णन या नायिका भेद हो यह सब जायसी के लिए सहज उपलब्ध भावना के

मुहावरे है जिनका एक मात्र उद्देश्य मनुष्य के मर्म मे प्रविष्ट होना है जिस तक जायसी स्वय अपने ही कर्म को बार–बार उधार कर पहुँचे थे।"[117]

साही का मानना है कि "साहित्य मे किसी विचारधारा या दार्शनिक सिद्धान्त का वहन करना एक बात है और अपने युग की सम्पूर्ण चिन्तशीलता मे उलझी हुई अनुभूति को आत्मसात करना दूसरी बात है। यह आत्मस्थ चिन्तनशीलता गभीर साहित्य को एक बौद्धिक सघनता प्रदान करती है।"[118] जायसी की यही चिन्तनशीलता पूरी कथा मे एक तरल दृष्टि का सृजन करती है जिसमे मानवीय व्यापार के प्रति पीडा है–किन्तु अवसाद नही, हल्का वैराग्य है,–लेकिन गहरी सशक्ति भी है, तटस्थता है, लेकिन स्पष्ट नैतिक विवेक भी है। यही वह सुगध है जो फूल के मरने के बाद भी नही मरती।"[119]

पदमावत के शिल्प के विषय मे साही की स्थापना है कि जायसी अन्योक्ति, समासोक्ति से हटकर तीसरी स्थिति का प्रयोग करते है। "वाच्यार्थ अथवा प्रस्तुत प्रसग की प्रमुखता बराबर बनी रहे और दूसरा अर्थात् अप्रस्तुत या व्यजित अर्थ थोडी देर के लिए अतिरिक्त झलक दिखाकर पहले अर्थ में विलीन हो जाय, जायसी की वर्णन शैली है।"[120]

इसी क्रम में साही कहते है कि "इस तीसरी अवस्था मे प्रस्तुत अर्थ के समाहित हो जाने से प्रसगगत अर्थ मे तीव्रता, वैचारिक तरंगाकुलता और भावों के सश्लेष का समायोजन होता है। यही है वह विस्तृत होती हुई झकार जिसे हम बौद्धिक सघनता कह सकते हैं।"[121] इसी 'बौद्धिक सघनता' से जायसी इतिहास और इतिहासातीत के तनाव से कथा की रचनात्मक सभावनाओ को चरितार्थ करते है। पद्मावत को विद्वानो ने दो खण्डो मे बॉटकर देखा है। स्वयं शुक्लजी की भी यही पद्धति है। शुक्ल जी का सारा विश्लेषण प्रथमार्द्ध पर ही केन्द्रित रहा है। साही ने इस दृष्टि को उचित नहीं माना। चूँकि पद्मावत मात्र प्रेम की कहानी नहीं है बल्कि प्रेम और युद्ध की मिली जुली कहानी है। इसलिए साही का तर्क है कि पद्मावत को खण्ड–खण्ड देखना उचित नही। पद्मावत के मूल को उसकी सम्पूर्णता में ही जाना जा सकता है।

सम्पूर्ण पद्मावत के कथानक की बनावट मे दो दुनियॉ है "स्वप्नो आकाक्षाओ मूल्यवत्ता की एक दुनिया भीतर है। रौदती हुई सत्ता की आतककारी दुनिया बाहर है। क्या ये दोनो दुनियाऍ एक दूसरे मे प्रविष्ट होकर समन्वय प्राप्त कर सकती है? जब ये दोनो दुनियाऍ एक दूसरे के निकट आती है, तो क्या होता है अपनी आत्मा की पूरी शक्ति से जायसी ने इसी सवाल को **आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक** आयामो मे पूरे पद्मावत की कथा मे पूछने का अभूतपूर्व प्रयास किया है। जबाब मे उन्होने देखा चिता से उडती हुई राख और एक वीरान सन्नाटा। और जायसी उस चिता की राख को कुरेदते है कि इसमे एक धडकता हुआ ह्रदय था, उसका क्या हुआ? गालिब के शब्दो मे –

जला है जिस्म जहॉ दिल भी जल गया होगा
कुरेदते हो ये क्यों खाक जुस्तजू क्या है ?

यह जुस्तजू ही वह प्रश्न चिन्ह है जिसे हम जायसी के ट्रेजिक विजन या विषाद दृष्टि की भॉति देखते है।"[122]

जायसी ने कथा की नायिका पद्मावती को स्वप्न और यथार्थ, आकांक्षा और मुट्ठी भर राख, जीवन और मृत्यु इन परस्पर विरोधी तत्वों के बीच जगमगाते सौन्दर्य राशि के रूप मे रचा है। उसके जादू भरे स्पर्श सौन्दर्य से सकल चराचर विमोहित हो जाते है। चित्तौड की कथा जादुई चमत्कार के निषेध से आंरभ होती है। जायसी एक नाटककार की भॉति एक दूसरे लोक में प्रविष्ट करते है जहॉ सिहल लोक की तमाम शर्ते निरर्थक सी प्रतीत होती हैं। पर सबसे बडा अंतर काल का है। डॉ० गिरिजा राय के अनुसार "सिंहल लोक फैटेसी का लोक है वहॉ काल बोध एक चिरन्तन स्थिरता और वैश्विक सांमजस्य से जुडा है। परन्तु दिल्ली–चित्तौड मे काल भूत वर्तमान भविष्य की सीधी रेखा में दौडता है। हर घटना की ओर भागती है और इस भविष्य पर किसी का कोई अधिकार नही है– न रतनसेन का न अलाउद्दीन का। यह वह दुनिया नहीं है जहॉ ॲबराई बराबर फूलती है। यह यथार्थ की दुनिया है।"[123] पद्मावती प्रकाश का वह पुज है जिसकी आभा से लगातार ऊर्जा प्रस्फुटित होती रहती है। कुल मिलाकर "पदमावती जिदगी

का दर्शन नही है, जिदगी है। वह जायसी का तसव्वुफ नही, जायसी की कविता है।"[124] पद्मावती ही कथा के दोनो भागो को आपस मे मिलाने वाले 'सेतु' का काम करती है और उसका जौहर वह विषाद दृष्टि देता है जिससे पाठक का अर्न्तमन लगातार मथता रहता है। साही का तर्क है कि "पद्मावती स्थूल और सूक्ष्म, पार्थिव–अपार्थिव दोनो स्तरो पर एक साथ झकृत है। वस्तुत: पद्मावती आधा स्वप्न है आधा यथार्थ। पद्मावती का चित्र रोमाटिक नही है जहॉ यथार्थ उसी समय अपनी आभा को प्राप्त करता है जब वह पिघलता हुआ अशरीरी हो जाने के क्षण मे अटका होता है। लेकिन जायसी ने शास्त्रीय पद्धति के जिस नख–शिख वर्णन और काव्य अभिप्रायो का सहारा लिया है, उसने जहॉ पद्मावती को स्वप्नवत् बनाया, वही उसको एक वस्तुपरकता भी प्रदान की। पद्मावती कवि का निजी स्वप्न नहीं है, जैसा रोमाटिक और छायावादी कवियो के साथ होता था – पद्मावती एक पूरी सस्कृति का स्वप्न है।"[125] इसी 'सास्कृतिक स्वप्न' को साही ने अपने विवेक से यथार्थ बनाया है।

'प्रतिध्वनिअलकार' या कथा के दो भागो को आमने–सामने रखकर जिस तरह जायसी ने पद्मावत को रचा। उसी तरह उसका मर्म खोलते हुए साही पद्मवती के सामने नागमती को रखते हुए जायसी की प्रतिभा की सर्वोत्कृष्टतर कल्पना नागमती के विरह वर्णन को उद्घाटित करते है। यह मानते हुए कि आचार्य शुक्ल ने नागमती के विरह वर्णन के आन्तरिक सवेगो की तरलता और तीव्रता की बदौलत जायसी को गुमनामी से उठाकर 'हिन्दी की त्रिवेणी' में बैठा दिया। साही अपनी मर्मग्राही दृष्टि से कहते हैं "नागमती का पार्थिव शरीर और महल की सखियॉ शुरू की कुछ पक्तियो मे झीनी–सी दिखाई पडती है। अचानक कल्पना एक झटके से मुक्त हो जाती है और हमारा साक्षात्कार आवाज, सिर्फ आवाज से होने लगता है। धीरे–धीरे झीनी पार्थिवता भी केचुल की तरह छूट जाती है। सारी पार्थिवता तिरोहित होने लगती है सखियॉ पिघलकर तिरोहित हो जाती है। चित्तौड का किला, राज महल सब तिरोहित हो जाता है, यहॉ तक कि नागमती का पार्थिव शरीर भी तिरोहित हो जाता है। वीरानों, जगलो, वनखण्डियो, पहाडियो, गॉवो खेतों मे टीसती हुई एक साफ, लेकिन अशरीरी आवाज शेष रह जाती है। यह आवाज पूरे देश के

गुजरते हुए समय के मर्म मे निरन्तर तैरती रहती है। देश और काल, दोनो अनावश्यक आवरण की तरह छूटकर गिर जाते है – मर्म केवल मर्म ही रह जाता है। किसकी आवाज है यह? 'नागमती' की? इस आवाज में एक पारदर्शी निर्वैयक्तिकता है जो नागमती को भी पीछे छोड जाती है। शनै शनै यह अन्तर्वर्ती आवाज पूरे चित्तौड की, और उससे भी आगे बढकर उस पूरे इतिहास लोक की आवाज हो जाती है जिसे छोडकर रतनसेन चला गया है।"[126]

विजय देव नारायण साही ने 'जायसी' को एक आधुनिक कवि के रूप मे खोजा है। साही की आलोचना जायसी के शब्दो में 'फूल मरै पर मरै न बासू' की तरह है। साही के इस आलोचनात्मक अवदान पर आधुनिक कवि समीक्षक परमानन्द श्रीवास्तव की टिप्पणी है "पद्मावत के समग्र सगठन से गुजरते हुए साही उस सारतत्व को रेखाकित करना चाहते है जो तमाम निस्सारता को पार कर उसी सुगधि के रूप मे शेष रह जाता है जिसकी ओर इशारा उपर की पंक्तियो मे किया गया है। यही साही की मुख्य उपलब्धि है जायसी के तसव्वुफ को वह अपने तर्क, अनुमान, मौलिक विश्लेषण से चाहे पूरी तरह काट न सके हो, जायसी की कविता की सश्लिप्ट समग्र पहचान मे उनकी सफलता असंदिग्ध है।"[127]

साही ने 'जायसी' की नयी खोज करके न सिर्फ जायसी का पुनर्विष्कार किया है बल्कि 'हिन्दी आलोचना' को आधुनिक दृष्टि से नये मूल्याकन का औजार भी उपलब्ध कराया है। नागेश्वर लाल का मानना है कि "विजयदेव नारायण साही की यह खोज न अकारण न आरोपित, लगता है कि उन्होने अपने युग मे निस्सार पाया उसके है सहारे जायसी के युग को समझने मे उन्हे सुविधा हुई। इसीलिए वे जायसी के साथ बहुत कुछ अन्तरग सम्बन्ध बनाने मे समर्थ हो सके। इस तरह पद्मावत सैकडो वर्ष पहले लिखे जाने के बावजूद समकालीन सन्दर्भ मे इतना प्रासगिक प्रतीत हुआ। स्वभावत उस कृति को वर्तमान युग मे नया अर्थ–सन्दर्भ और नया आयाम प्राप्त होता है।"[128]

फुटनोट

1 वर्तमान साहित्य (पत्रिका) – शताब्दी आलोचना पर एकाग्र– भाग 1 (स० अरविन्द त्रिपाठी) – भूमिका

2 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही – पृ० 263

3 पूर्व ग्रह (पत्रिका) साही विशेषाक – स० रमेशचन्द्र शाह पृ० 13

4	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
5	मछली घर	विजय देव नारायण साही (जगदीश गुप्त का वक्तव्य)	पृ० 7
6	जायसी	विजय देव नारायण साही (जगदीश गुप्त का वक्तव्य)	पृ० 11
7	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही भूमिका	
8	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 23
9	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 21
10	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 22
11	साहित्य मे सयुक्त मोर्चा	अमृत राय	पृ०8–9
12	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 26
13	अभिप्राय	साही विशेषाक – सं0 राजेन्द्र कुमार	पृ० 90
14	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ०18–19
15	अभिप्राय पत्रिका	साही विशेषाक – स0 राजेन्द्र कुमार	पृ० 87
16	मार्क्स गॉधी एण्ड सोशलिज्मराम मनोहर लोहिया		पृ० 137
17	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 70
18	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 74
19	तीसरा सप्तक	सम्पादक – अज्ञेय	पृ० 182
20	तीसरा सप्तक	सम्पादक – अज्ञेय	पृ० 183
21	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 75
22	वर्तमान साहित्य पत्रिका	शताब्दी आलोचना पर एकाग्र भाग–1 स0 अरविन्द त्रिपाठी	पृ० 89
23	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 79
24	हिन्दी साहित्य उद्भव और वि0 हजारी प्रसाद द्विवेदी		पृ० 44
25	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 87
26	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 87
27	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 136
28	विवेचना गोष्ठी 1964 मे पठित्		
29	वर्तमान साहित्य पत्रिका	शताब्दी आलोचना पर एकाग्र भाग–1 स0 अरविन्द त्रिपाठी	पृ० 89
30	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 196
31	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 196
32	दूसरा सप्तक	सम्पादक – अज्ञेय	पृ० 87
33	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 200

34	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 200
35	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 216
36	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ०216–17
37	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 217
38	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 218
39	नई कविता के सयुक्ताक (5–6) मे प्रकाशित अपूर्ण लेख		
40	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 259
41	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 259
42	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
43	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
44	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
45	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 264
46	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 268–69
47	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 271
48	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 272
49	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 272
50	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 276
51	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 279
52	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 312
53	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 316
54	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 317
55	छठवां दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 3
56	1988 मे प्रदीपन प्रकाशन से कचनलता साही द्वारा प्रकाशित		
57	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही – आमुख	पृ० 01
58	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही	पृ० 260
59	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 8
60	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 9
61	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 20
62	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 18
63	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 19
64	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 36
65	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 38
66	दिनमान मे 3 किश्तो की लेखमाला दो अक साहित्य क्यो? में सकलित		
67	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 44
68	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 84
69	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 85
70	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 90
71	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 93
72	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 74
72	साहित्य क्यों ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 75
73	साहित्य क्यो ?	विजय देव नारायण साही	पृ० 78

74 साहित्य क्यो ? विजय देव नारायण साही पृ० 78
75 साहित्य क्यो ? विजय देव नारायण साही पृ० 79
76 लोकतत्र की कसौटियॉ – हिन्दुस्तानी एकेडमी 1991 मे प्रकाशित
77 लोकतत्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही
–भूमिका मधुलिमये पृ० XI
78 लोकतत्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही
–भूमिका मधुलिमये पृ० XIII
79 वर्धमान और पतनशील – कचन लता साही द्वारा वाणी प्रकाशन दिल्ली से 1991 मे प्रकाशित
80 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 07
81 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 17
82 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 18
83 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 18
84 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 21
85 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 24
86 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 36
87 छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 224
88 छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 224–25
89 छठवा दशक विजय देव नारायण साही पृ० 125
90 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 49
91 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 59
92 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 59
93 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 62
94 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 131
95 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 136
96 हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे 25 सितम्बर 1982 मे विषय प्रवर्तन के रूप मे
97 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 140
98 साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 54
99. साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 55
100 साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 57
101 अभिप्राय पत्रिका साही विशेषाक सं0 राजेन्द्र कुमार पृ० 67
102 वर्तमान साहित्य पत्रिका शताब्दी आलोचना विशेषांक सं0 अरविन्द्र त्रिपाठी पृ० 88
103 साहित्य क्यो विजय देव नारायण साही पृ० 85
104 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 112
105 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 90
106 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 91
107 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 01
108 साहित्य का नया शास्त्र गिरिजा राय पृ० 121

109	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 32
110	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 55
111	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 34
112	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 35
113	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 50
114	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 59
115	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 62
116	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 63
117	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 67
118	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 67
119	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 67
120	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 70
121	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 70
122	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 98—99
123	साहित्य का नया शास्त्र	गिरिजा राय	पृ० 127—28
124	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 105
125	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 104
126	जायसी	विजय देव नारायण साही	पृ० 111
127	पूर्वग्रह पत्रिका साही विशेषाक	सम्पादक — रमेश चन्द्र शाह	पृ० 110
128	आलोचना (पत्रिका)	अक्टूबर—दिसम्बर 84 सं० नामवर सिह	पृ० 94

चतुर्थ अध्याय

विजयदेव नारायण साही के आलोचनात्मक प्रतिमान

विजयदेव नारायण 'साही' का 'आलोचना–कर्म' मूलत 'नयी कविता' के दौर मे शुरू हुआ। 'तीसरे सप्तक' के कवि साही ने साहित्य को उसके राजनीतिक, सामाजिक, सन्दर्भों से जोडकर देखा–परखा। लोहियावादी–समाजवादी चितक साही ने 'साहित्य' को विचारधारा के आधार पर समझने के बजाय विचारात्मक दृष्टि से समझने का प्रयास किया। साही के दौर मे मार्क्सवादी विचारधारा का जोर 'साहित्य' पर अत्यधिक था। समाज के अतिशय और व्यापक सयोजन से 'साहित्य' मे 'मनुष्य' और उसके अन्त करण मे घटित होने वाली चेतना की स्थिति पर ध्यान न देकर साहित्य को 'सामाजिक सन्दर्भों' से विवेचित करने की वकालत चल रही थी। वस्तुपरक चूकि हो जाने के कारण साहित्य की चारूता मर जाती है। इसलिए विचारधारा आधारित रचना–आलोचना एक तरह की यूटोपिया का निर्माण करने लगती है और इसी "यूटोपिया की अतिम परिणति मार्क्सवाद है, और मार्क्सवाद वह हिस्सा है जो काव्यानुभूति के बाहर पडता है। वह शुद्ध वस्तुपरकता है जहॉ कवि मर जाता है, कवि ही क्यो यथार्थ भी मर जाता है, हाथ आता है एक मरा हुआ वर्तमान और मरा हुआ भविष्य।"[1]

साही की चिन्ता 'मनुष्य नाभिक' रही है। 'मनुष्य' की स्वातन्त्र्य सत्ता की रक्षा ही 'साहित्य' का मूल उत्स होना चाहिए ऐसा साही का मानना था। साहित्य मे यह विवाद का विषय रहा है कि समाज और मनुष्य मे से साहित्यकार को किसको बदलने का आग्रह करना चाहिए। समाज को बदल दो, मनुष्य बदल जायेगा एक सिद्धान्त ऐसा है तो, मनुष्य को बदल दो, समाज खुद–ब–खुद बदल जायेगा एक ऐसा दूसरा सिद्धान्त भी है। वस्तुत यह विचार 'व्यक्ति' और 'परिवेश' सम्बन्धित है। पश्चिम मे तेन से लेकर पूर्व मे गॉधी, लोहिया के साथ–साथ आज तक इस बात पर बहस होती रही है।

डा0 लोहिया ने गॉधी और समाजवादी दृष्टिकोणों का हवाला देते हुए लिखा है कि "गॉधी जी मे व्यक्ति पर अधिक और परिवेश पर कम बल देने की प्रवृत्ति है। यह भी महसूस किया जाना चाहिए कि समाजवाद में परिवेश को अधिकतर और

व्यक्ति को कमतर महत्व देने की प्रवृत्ति है। अगर विचारो के तार्किक विधान का तरीका निकालना है तो दोनो पर समान जोर देना होगा।"[2]

साही ने 'व्यक्ति और परिवेश' जिसके तहत मानव–समाज का पूर्णतया कृतित्व और भौतिक जगत आता है और जिसके योग से मनोभूमि का निर्माण होता है, को बराबर का महत्व दिया है। साही ने दोनो के बीच सतुलन का जोखम उठाया फलस्वरूप 'जायसी' का 'कवि–व्यक्तित्व' भी पकड मे आया और साहित्यकार का दायित्व भी। डा0 सत्य प्रकाश मिश्र के अनुसार "वे देवता और राक्षस को अलग–अलग भी देखते है, और उनके अन्त· प्रवेश तथा बहिर्आच्छादन को भी ध्यान में रखते है' और चूकि इन सब का स्रोत अन्ततः मनुष्य है इसलिए साही अपने महत्वपूर्ण लेखो मे यहा तक कि जीवन मे भी उस अपरिभाषित को जिसे सामाजिक कठिनाई के कारण अपौरूषेय कह दिया गया था, परिभाषित करते रहने का प्रयत्न करते है।"[3]

एक तरफ साही की चिन्ता का मुख्य विषय 'मनुष्य' रहा है, जो लघु भी है, महत् भी कुल मिलाकर 'सहज मनुष्य' है तो दूसरी तरफ वे 'भारतीयता' से ओत–प्रोत हो साहित्य के मूल्यांकन मे प्रविष्ट होते है। यह भारतीय चिन्तनधारा उन्हे वेद मे ले जाती है, कालिदास की तरफ मोडती है तो रीतिकाल के साथ–साथ छायावाद और 'नयी कविता' की भाव–भूमि को समझने का उपकरण उपलब्ध कराती है।

साही मार्क्सवादी विचारधारा के कट्टर विरोधी थे। ऐसा तमाम आलोचको खासकर मार्क्सवादी विचारको का मानना है। साही ने स्वय ही कहा भी है कि "कम्युनिस्ट नही हूँ"[4]। साही के आलोचना सम्बन्धी दृष्टिकोण मे इस सूत्र का बहुत महत्व है। साही ने बार–बार 'कम्युनिस्ट आलोचना' को कटघरे मे खडा किया। मार्क्सवादी विचारको को बार–बार उद्धृत करके उनके विचारों में जो वर्ग आधारित राजनीतिक चेतना थी, उसे साहित्य के लिए हानिकारक बताया। मार्क्सवादी विचारो की जो पृष्ठभूमि थी मूलत. वह पश्चिम से आयी थी। साही का मानना है कि 'पश्चिम' के विचारो से पूर्व का कोई भला नही हो सकता, कारण यह कि 'पूर्व' की

सामाजिक, सास्कृतिक स्थिति पश्चिम से भिन्न है। मार्क्स के इस कथन पर कि "अगर अग्रेजो ने हिन्दुस्तान को अपनी दानवीय वर्बरता के साथ कुचल कर और तहस–नहस करके न रख दिया होता तो हिन्दुस्तान मे कभी प्रगति की लहर ही न उठती।"[5] साही उत्तेजित होकर कहते है कि मार्क्स तो ऐसा कहेगा ही "क्योकि वह तो इग्लिस्तान का रहने वाला था न! जर्मनी का रहने वाला था न! ब्रिटिश म्यूजियम मे लिख रहा था न !"[6] दरअसल साही की भारतीयता से ओत–प्रोत दृष्टि ने किसी भी कीमत पर पश्चिम के विचारको के भारत के सम्बन्ध मे दिये गये निष्कर्षों को स्वीकार नही किया।

विचारधारा आधारित रचना या आलोचना से साहित्य का मर्म स्पष्ट नही हो पाता। साही इसे 'कवि–व्यक्तित्व' के लिए बाधक मानते है। जायसी के सन्दर्भ से इसे विश्लेषित करते हुए साही कहते है कि "वस्तुतः मात्र मनोरजन साहित्य और मात्र सदेशवाहक साहित्य दोनो एक सिक्के के दो पहलू ही साबित हो जाते है। मनोरजक साहित्य यह देखने के लिए तैयार ही नही होता कि जिन्दगी को अर्थ से आलोकित करने वाले तत्व क्या है और कहा है। अत· जिन्दगी का एक वह बडा हिस्सा, जहॉ मानवीय विवेक और भावनाओ के लिए मूलभूत प्रश्न खडे होते हैं, मनोरजनकर्ता लेखक के हाथ से छूट जाता है। मात्र संदेशवाहक साहित्य यह मानकर चलता है कि मूलभूत प्रश्न और मूलभूत उत्तर सब प्राप्त हो चुके है, उन्हे शब्दो और मुहावरो में बॉधा जा चुका है और वे सारे प्रश्न जो इस बने–बनाये ढॉचे से बाहर पडते है, अप्रासगिक और अनावश्यक है, बल्कि प्रश्नकर्ता की कुटिल बुद्धि से ही उपजते है। इस कटे–छटे सदेश का भी परिणाम यही होता है कि जिन्दगी का बहुत बडा हिस्सा जहॉ मानव–विवेक और भावनाओं के लिए वास्तविक चुनौतियॉ होती हैं, लेखक के हाथ से छूट जाता है, छोटे लेखको के साथ तो यह घटित होती ही है, बडे लेखकों के साथ भी अन्तत यह अपर्याप्तता सामने आने लगती है। जितना असदिग्ध संदेश होता है उतनी ही जल्दी वह पुराना और बासी पड जाता है। मात्र मनोरजन और मात्र आध्यात्मिक सदेश–इन दो खतरों को बेध कर जायसी किस तरह अपनी अनुभूति को अर्थवान बनाते हैं– यही उनकी सृजनात्मक क्षमता का रहस्य है।"[7]

सत्य प्रकाश मिश्र के अनुसार "साही का यह विश्लेषण मात्र इतने से ही एक प्रतिमान नही बन जाता परन्तु जब वह कहते है कि 'मात्र मनोरजन' और 'मात्र आध्यात्मिक' सदेश—इन दो खतरो को बेधकर जायसी किस तरह अपनी अनभूति को अर्थवान् बनाते है—यह उनकी सृजनात्मक का रहस्य है। तो वे एक स्थापना करते है जिसमे जायसी के शब्दो के स्थान पर 'बडा लेखक' शब्द जोडा जा सकता है या 'लेखक' शब्द रखकर 'उनकी सृजनात्मक' के स्थान पर 'उसकी सृजनात्मक महानता' शब्द कर दिया जा सकता है।"[8]

समाजवादी विचारक साही जितना 'लोहिया—गॉधी' के नजदीक हैं उतना ही नेहरू के स्वतन्त्रतापूर्ण चिन्तन के भी। यह और बात है कि वे जितना गॉधी के नजदीक होते जाते है, नेहरू से वैचारिक दूरी उतनी ही बढती जाती है। वस्तुत यही वैचारिक स्थिति लोहिया की भी है। छायावाद और उत्तर छायावाद के बीच जो मनोभूमि का अन्तर है, वह गॉधीवादी, नेहरूवादी दृष्टि का भी अन्तर है। 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' मे अगर लघु, महत्, सहज मानव को सदर्भित करने का प्रयास तो है 'मनोभूमि' मे परिवर्तन के कारको को खोजने का प्रयास भी है। साही ने बार—बार 'मनोभूमि' को परखने का प्रयास किया है। यह 'मनोभूमि' क्या है? साही के अनुसार "साहित्य मे भावनाओ, धारणाओं, विचारो, आदर्शों, उद्देश्यो, मन्तव्यों, अनुभूतियो, व्यवहारो, प्रणालियो आदि के मिले—जुले प्रतिक्षण सर्जित—विसर्जित प्रवाह जिसको 'मनोभूमि' (या अगर बहुत गतिहीन रूपक लगे तो मन प्रवाह) कहते है।"[9]

जब—जब उपर्युक्त विचारों मे परिवर्तन होता है साहित्य की धारा नई दिशा मे मुडने लगती है। साही के उपर्युक्त प्रतिमान सिर्फ आधुनिक काव्यधारा को समझने मे ही नही सहायक है बल्कि इससे उन्होने कालिदास को परखा,जायसी के सन्दर्भ मे फिरदौसी को देखा। अमीर खुसरो से लेकर, गालिब और निराला तक के सदर्भ मे यही प्रतिमान 'मनोभूमि' ही है।

नयी कविता मे 'लघुमानव' को लेकर स्थापित करने का प्रथम प्रयास लक्ष्मी कान्त वर्मा का है। 'नयी कविता' के संस्थापक—सम्पादक जगदीश गुप्त ने

'लघुमानव' की अवधारणा को तो एक सिरे से खारिज कर दिया लेकिन विजयदेव नारायण साही ने 'लघु मानव' की परिकल्पना को एक नयी भाव-भूमि देते हुए व्याख्यायित किया। लघु मानव की अवधारणा को लेकर 'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' मे साही लिखते है कि ''यह कहना कि लघुमानव 'सहज मानव' है, कुछ जॅचता नही। और यह भी आग्रह मुझे काम का नही लगता कि हम 'सहज मानव' या 'मानव' क्यो न कहे। क्योकि 'सहजमानव' या 'मानव' की किस झलक को हम देखते है और उसकी कितनी सजीवता हमारी पकड मे आ रही है, इसी को समझने के लिए तो यह सारी खोजबीन है।''[10] और "मनुष्य की हर परिभाषा मूलत: 'सहज मानव' की परिभाषा है चाहे हम मनुष्य की परिभाषा को कितना भी विकृत या अयथार्थ क्यो न समझे। अगर वह 'सहज मानव' की न हुई तो उसे परिभाषा कहना ही व्यर्थ है।''[11] साही की 'मनुष्य' चेतना दृष्टि मनुष्य को उसके उसकी सम्पूर्णता मे देखने की पक्षपाती रही है। चुंकि ''बारम्बार मनुष्य को बदलते हुए देश-काल मे परिभाषित करना साहित्य की जिम्मेदारी है''[12] तो स्वाभाविक था कि साही की आलोचकीय दृष्टि 'साहित्य' को उसके सम्पूर्ण कलेवर मे देखने की पक्षपाती रहती, इसीलिए साही का विचाराधारा पर जोर कम साहित्य के मर्म को समझने के प्रयास पर अधिक रहा है और इसीलिए साही रचना पर जोर देते है उसके बाहरी तत्वो पर कम, इसीलिए कमला प्रसाद कहते है कि ''वे पक्तियो के बीच के मर्म (Between the line) को खोलने मे तल्लीन रहते थे।''[13]

साही ने 'मनुष्य' को 'सहज मानव' के रूप मे सृजनात्मक के अर्थ मे परिभाषित करने का प्रयास किया है, वैज्ञानिक रूप से नहीं । अगर वैज्ञानिक तरीके से मनुष्य को परिभाषित नही किया जा सकता तो स्वाभाविक है कि परिभाषा अधूरी है। लेकिन साही ऐसा नही मानते। ''निसीम होना हमारी विवशता है। लेकिन उस निसीम को बराबर सीमित जाल मे फॅसाते रहना और उसमें निरन्तर सफल-असफल होते रहना, यह हमारी सबसे बडी उपलब्धि है, सृष्टि है। इसलिए साहित्य कभी सहज मनुष्य को नहीं पकडता-वह केवल उस केन्द्रित-कालबद्ध जाल मे फॅसी हुई सीमित झलक को पकडता है जहॉ से वह सहज आभासित होता है।''[14] यही मनुष्य नाभीय दृष्टि साही को बार-बार साहित्य के मूल में, तलस्पर्शी

तत्वो को खोजने को बाध्य करती है और यही मनुष्य चेतना दृष्टि साही को 'जायसी' मे मिलती है, कालिदास मे मिलती है। आधुनिक काल मे होने वाले परिवतन के मूल मे भी यही मनुष्य है। "साही साहित्य के द्वारा परिभाषित सहज मनुष्य की झलक की सामाजिक मनुष्य की सहजता से तुलना भी करते है परन्तु यह मानकर चलते है (बल्कि समस्या के रूप मे मानते हैं) कि दोनो एक नही हो सकते है"[15] इसीलिए साही मनोभूमि की बनावट की खोज करते रहते हैं उसका मूल्याकन करना उनका ध्येय नही है क्योकि "आलोचना का काम साहित्यिक कृति की सवेदना को जबरदस्ती खीचकर पाठक तक पहुॅचा नही है। आलोचना सिर्फ इतना कर सकती है कि पाठक के जो भी वैचारिक धारणात्मक पूर्वग्रह जाने या अनजाने, अपनी उपस्थिति या अनुपस्थिति के कारण पाठक को उस ओर उन्मुख होने से रोक रहे है जहॉ से काव्य का प्रभाव प्रवाहित हो रहा है, उन्हे विनिष्ट करके पाठक को एक उचित तत्परता की अवस्था मे छोड दे"[16] और साही इसीलिए किसी कविता की व्याख्या की अपेक्षा उसके अन्तर्भावो को उद्घाटित करना महत्वपूर्ण मानते है क्योकि "आलोचक गाने वाले स्वर से स्वर मिलाकर गा नही सकता।"[17]

प्रत्येक साहित्यकार के सामने जीवन की विषय वस्तु–जिसमे उसका राजनीतिक सन्दर्भ भी होता है, सामाजिक सन्दर्भ भी होता है, जीवन की विविध गतिविधिया भी होती है और युग से जुझने के साथ–साथ नये भाव–बोध से सम्पकृत होने का सघर्ष भी होता –को रूपाकार ढालना एक नैतिक प्रश्न के रूप मे उपस्थित होता रहता है और यह प्रश्न जितना नैतिक होता है उतना ही सृजनात्मकता के लिए चुनौती भी प्रस्तुत करता रहता है।यह चुनौती तब और अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है जब युग का काल–प्रवाह स्थिर हो या काल–प्रवाह और मनुष्य की चेतना मे विखंडन पैदा हो जाय। साही इस दृष्टि से रघुवीर सहाय और अज्ञेय से भिन्न प्रतीत होते है क्योंकि वे दीप्तिमान क्षण के बजाय चेतना की वर्तमानता की बात करते है। साही का मानना है कि "वह मेरे लिए चाहे स्मृति की शकल बनकर आवे, चाहे अभिलाषा की शकल मे आवे तो अतत. यह समस्त घटनाये मेरे आतरीक चेतना–जाल का अग ही बनकर के आती है। और वह अतीत

से लेकर के भविष्य तक फैला जरूर दिखता है, परन्तु है वह उसी क्षण जिस समय मै चेतन हूँ। यदि मै चेतना खो दूँ तो वह भविष्य भी गया और वह अतीत भी। इस अर्थ मे चुकि हमारी लेखन की प्रकृति, कल्पना की प्रकृति अनुभव को समझने की प्रकृति, साक्षात्कार की प्रथम शर्त इस प्रकार की समग्रता मे ही है।''[19] साक्षात्कार के क्षण की नैतिकता साही को नीत्शे के करीब भी ले जाती है। तीसरा सप्तक के पचीसशीलो मे से एक शील मे वे 'जरथुस्त उवाच' को सामाजिक यथार्थ की दृष्टि से जला देने लायक मानते हुए भी कविता की दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते है।''[20] यद्यपि इसके बाहरी परिणाम काव्य या आलोचना मे उस रूप मे नही दिखाई पडते है जो ससार से घृणा या उदासीनता मे बदल जायें। सत्य प्रकाश मिश्र के अनुसार ''क्योकि 'मनुष्यसत्य' और 'भौतिकसत्य' उनके लिए एक ही चेतना के भीतर विद्यमान रहते है और चेतना से नकार सभव नही है जब तक 'अभ्यतरीकृत विश्व' और 'साक्षात विश्व' मे टकराहट न हो। टकराहट का क्षण ऊर्जा के उत्सर्जन और विसर्जन का क्षण है। यह सहार का भी क्षण हो सकता है क्योकि कई पाश्चात्य कवियो मे विशेषकर मालार्मे मे जिसको साही ने उद्धृत किया है, है भी।''[21] स्वाभाविक है कि इस टकराहट के कई स्वरूप हो सकते है और प्रत्येक स्वरूप अपने युग के मनुष्य की स्थिति और उसके रिश्तो के परिवर्तन पर निर्भर है। इसी सन्दर्भ से नितान्त समसामयिक का तात्पर्य इसी अर्थ मे टकराहट के क्षण की विद्यमानता से है।

छायावाद के सन्दर्भ मे साही का मानना है कि ''छायावाद मे चेतना के ही दो दर्पण इस पार उस पार रखे हुए हैं और बीच का अचित् ब्रह्माड उनकी परस्पर छाया की तरह आभासित होता है, यह दृष्टि मार्क्सवाद के अद्वैतात्मक भौतिकवाद से भिन्न है, जिसमे प्रकृति और पुरूष के दोनो दर्पण अचित् ही है और चेतना भौतिकता के दर्पण में पली हुई छाया की तरह आभासित होती है।''[22]

छायावाद युग को 'सत्याग्रह युग' मानते हुए, छायावाद की मनोभूमि को गॉधी से जोडते हुए साही एक तरफ युगीन साहित्य के मूल्यांकन में अग्रसर होते है तो दूसरी तरफ राष्ट्रीय आन्दोलन को, उसकी प्रकृति को भी समझने का प्रयास करते है, जिससे 'आधुनिक चेतना' का निर्माण हुआ। इस मनोभूमि के तलस्पर्शी बनावट मे

साही 'तनाव' और 'सतुलन' को बराबर खोजते रहते है जो साहित्य मे 'अमूर्तरूप' से और समाज मे 'मूर्त' रूप से व्यवहृत होता रहता है। साही साहित्यकार के दायित्व मे 'साहित्यिक' तथा सामाजिक दायित्वो को एक ही मानते है और तनाव को सास्कृतिक, राजनीतिक, धर्म–निरपेक्ष के विलयन मे अनिवार्य शर्त के रूप मे स्वीकार करते है। 'तनाव' और 'सतुलन' की दोनो दृष्टियो के कारण साही की भाषा मे रूपकत्व मिलता है जिससे अर्थ मे दुहरा तत्व छिपा रहता है और जो "आन्तरिकता और बाह्यता दोनो को ही समान रूप से प्रकाशित करता है। इस अर्थ मे साही को सरचनावादी आलोचक भी कहा जा सकता है।"[23]

साही के 'मनोभूमि' प्रतिमान को अज्ञेय के विश्लेषण से भिन्न देखा जा सकता है। साही ने हिन्दी कविता की 'मनोभूमि' को व्याख्यायित करते हुए, उसमे पीढी–दर–पीढी हुए परिवर्तन को लक्षित करते हुए 'हिन्दी की दो पीढीयों और युग परिवर्तन' मे लिखा है कि "मै कह चुका हुँ कि साहित्यकार अपने युग की विशिष्ट चेतना या अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है। यह पीढी की पीढी जिस विचित्र युग से गुजरी है, वह हीरो बनाने और हीरो पूजने का युग था।"[24] और इसी "विशेष चेतना मे छायावादी कवि प्रवेश करता है। युग ने अपने चरणो की धूल उसके मस्तक पर लगा दी और देखते–देखते कवि समाज–सुधारक से हीरो बन गया। भव्यता और वैभव उसका आदर्श बन गया। वह तूफान के साथ उडता है, बिजली की तरह हॅसता है बादलो की तरह रोता है, दु खी भी होता है तो घोषणा करके 'ओ अनन्त की निहारीकाओ ठहर आजो, अब मॉ बदौलत दु खी होना फरमाते है।' वह प्यार करता है तो अनन्त से, जागता है तो सिंह की भॉति, खडा होता है तो हिमालय की तरह, शस्त्र समर्पण भी करता है तो यों कि 'सिहों का समूह दिये देता है, नखदन्त आज अपना।' . इस दृष्टिकोण से छायावाद की भाषा मे अद्‌भूत का अभ्युत्थान' करते है। वस्तुत छायावादी कवि प्रिय के प्रेम में उतना पागल नही है जितना कि प्रेम के प्रेम मे।"[25]

साही ने 'उत्तर छायावाद' की कविता को 'जवानी का काव्य' माना है। कारण कि इस काल का कवि छायावादी मनोवृत्ति से विद्रोह कर बैठता है। 'उत्तरछायावाद' की 'मनोभूमि' को समझने का प्रयास करते हुए साही इस युग को

नेहरू से जोडकर देखते है। 'छायावाद' से उत्तर छायावाद की हिन्दी कविता विद्रोही मानसिकता का परिचय देती है। साही का मानना है कि "हीरो कवि को यथार्थ का पहला धक्का जब लगा तो वह विद्रोही हो गया। अब वह अपना ही हीरो बनेगा। उसे किसी की चिन्ता नही है। वह दीवाना है, फक्कड है, मस्त है, जवान है, मौजी है हीरो है। अब वह कम से कम एक प्रेमिका की खोज मे लगा है। – – –तुम मेरा गान गा दो तो मै हीरो बन जाऊँ। तुम्ही से मुझे आशा है कि मरने के बाद पीने वालो को बुलवाकर मधुशाला खुलवा दोगी। जशन–जलूस रहेगा। कुछ लोग तो मुझे याद करेगें । हीरो का विशालकाय शरीर पिघलता जा रहा है, लेकिन जलूस का अरमान नहीं गया।"[25] इसी पिघलते हीरो की आखिरी छटपटाहट 'प्रगतिवाद' की अभिव्यक्ति है। 'जलूस' की लालसा तो इस युग मे भी है लेकिन उसको सिर्फ प्रेमिका की बदौलत तो नही इकट्ठा किया जा सकता है कुछ और करना होगा। साही के अनुसार "एक विचित्र ज्वर से आक्रान्त वह बाहर आता है। उसका चेहरा तम–तमाया हुआ है, भुजदण्ड फडक रहे है, नसे उभर आयी है, वह चीखता है, चिल्लाता है, उछलता है, कूदता है–वह हीरो है। यह वही छायावाद का हीरो है केवल बौना हो गया, ऊँचा दिखने के लिए बैसाखियों पर सवार है सबके ऊपर सुनाई पडने के लिए गला फाड कर बोलता है। भव्यता का अरमान अभी भी जोर मार रहा है।"[26] साही इस युग को 'हीरो' युग मानते हुए इसे 'विश्वधरातल' पर खोजते है। साही का मानना है कि भारत ही नही पूरे युरोप मे 'हीरो' की नैसर्गिक हवा बह रही थी। "हिटलर, मूसोलिनी, लेनिन, स्टैलिन, अत्यन्त अनास्थावान इग्लैन्ड मे चर्चिल और अमेरिका मे रूझवेल्ट। लडाई खत्म होते ही इग्लैन्ड ने चर्चिल को समाप्त कर दिया, क्योकि इग्लैन्ड प्रौढो का देश है। हिटलर, मूसोलिनी और तोजो गये– हीरो की नही, युद्ध–अपराधी की मौत। और बीसवी शताब्दी के अन्तिम हीरो स्टैलिन का मुलम्मा उतरते हम अपनी ऑखो से देख रहे है।"[27]

अपने युग के भारत को साही 'एण्टीहीरो' मानते है और इसे अपने युग का व्यापक मुहावरा स्वीकार करते है "जिस मोहभग की अवस्था से हम गुजर रह है वह मूलत. हीरो और हीरोवाद के प्रति चरम विरक्ति का द्योतक है। यह अलग बात है कि सब इस नये टेम्पर का अभिज्ञान और विश्लेषण न कर पाते हों।"[29]

साही की आलोचना मे बार–बार राजनीतिक और सामाजिक पक्षो पर चर्चा होती रहती है। उसका कारण यही है कि साही 'आलोचना' के एक ऐसे प्रतिमान की खोज मे लगे रहे कि जिससे पूरा साहित्यिक युग भी परिभाषित होता जाय और परम्परा और आधुनिकता का अन्तर भी स्पष्ट होता जाय। इसीलिए उनका सघर्ष सिर्फ साहित्यिक ही नही बल्कि राजनीतिक, सास्कृतिक सघर्ष भी रहा है। इसी को सदर्भित करते हुए मलयज साही को तीन सिरो वाला आलोचक मानते हैं।

वस्तुत साही का चितन सरल चितन बना द्वन्द्वात्मक चिन्तन का है और साही ने इसमे कभी–कभी संतुलन स्थापित करने का प्रयास भी किया है। सरल चितन गॉधी की तरफ उन्मुख करता है तो द्वन्द्वात्मक चिंतन नेहरू की तरफ। साही ने जायसी के बारे मे लिखा है कि "जायसी भौतिकवादियों के बीच अध्यात्मवादी है और अध्यात्मवादियो के बीच भौतिकवादी।'[30] यह एक जोखम भरी दृष्टि है इसी दृष्टि से साही भी जोखम उठाते है इसलिए उनके आलोचनात्मक प्रतिमान एक 'आतरिक लय' से परिचालित होते है जिसमे कालिदास है तो फिरदौसी है, गालिब है तो अमीर खुसरो भी, जायसी, कबीर, तुलसी, सूर, है तो रीतिकाल के कवि भी है। और इसीलिए साही आलोचना के प्रतिमानो को खोजने के बजाय उसे एक साथ कई स्तर पर झंकृत होना शुभ मानते है। "आलोचना के लिए, चाहे वह मूल्याकन हो या पुनर्मूल्याकन सीधे सुधरे गिनाने जाने लायक प्रतिमान बहुत काम के नही होते। सबसे अधिक आकर्षक आलोचना तो वही होती है जो एक साथ बहुत से पहलुओ को उजागर करती चलती रहती है और पाठक को मूल कृति या कृतियो के बारे मे एक विशिष्ट उन्मुख अवस्था में छोड देती है। अच्छी आलोचना इस उन्मुख अवस्था को धारदार विशिष्टता प्रदान कर देती है जो कभी–कभी प्रतिमान जैसी लग सकती है।"[31]

हिन्दी की 'आंतरिक लय' को साही कालिदास मे देखते है। कालिदास मे देखने का मतलब वेद, पुरान, स्मृति से अलग हटकर एक कवि में इसकी तलाश करना। दिलचस्प बात यह है कि अरविन्द जैसे चिंतक ने कालिदास को आध्यत्मिक विकास के भौतिक चरमोत्कर्ष का कवि माना है पर साही का मानना है कि कालिदास उस जीवन दर्शन के सबसे प्रामाणिक स्रोत है, जो हिन्दुस्तान की और

हिन्दी साहित्य की 'आन्तरिक लय' है। इसीलिए कालिदास सिर्फ साही के लिए महज ऐन्द्रिक विभूतियो के कवि नही बल्कि दर्शन और अनुभूति के विशिष्टताद्वैत को चरितार्थ करने वाले कवि है। इसी को सदर्भित करते हुए रमेशचन्द्र शाह का कहना है कि "क्या इससे निष्कर्ष निकाला जाय कि साही जी हिन्दुस्तान और दुनिया की आधुनिक सॉसत को एक साहित्यिक अनुभववाद मे रिड्यूस कर रहे है? हम देखते है कि 'लघुमानव' वाले लेख मे उन्होने जो रीझ–बूझ गॉधी जी पर निछावर की है उससे कम सहानुभूति पण्डित नेहरू को नही दी है"[32] रमेशचन्द्र शाह ने साही की आलोचना विशिष्टता को गॉधी नेहरू के सन्दर्भ मे देखा है जिससे 'साही' का सम्बन्ध आधुनिक काल की भाव–भूमि मे उनके तल मे काम करती 'मनोभूमि' से है। साही उत्तरछायावाद खासकर बच्चन – जिसे वे नयी कविता की भाव भूमि स्वीकार करते है – का राजनीतिक सम्बन्ध नेहरू की आत्मकथा से जोड़कर देखते है। बच्चन और नेहरू को एक साथ देखने के पीछे उनका मतव्य था कि छायावाद मे जो 'कल्पना प्रसूत' तत्व था वह यथार्थ से दूर जा रहा था। उत्तरछायावादी कवियो ने 'यथार्थ' को उसके सम्पूर्ण कलेवर मे देखने का प्रयास किया फलस्वरूप उनकी भाषा ही नही, शिल्प मे, विचारो मे भी परिवर्तन हो गया, और इसे हम छायावादी आध्यात्मिक के बजाय भौतिकवादी दृष्टि का विकास मान सकते है। गॉधी को अध्यात्मिकता का पुज स्वीकार किया जाये तो नेहरू को भौतिकता का। छायावाद से उपजी विद्रोहात्मकता निराशाजन्य थी और ऐसी ही 'गॉधी इरविन' समझौते से ऐसी ही कुछ निराशाजन्य परिवर्तन की हामी भरती है, नेहरू की आत्मकथा और साही का निष्कर्ष है कि "बच्चन जी और पडित नेहरू दोनों ही उस ध्वस्त होते हुए बास्तील की थरथराहट को महसूस कर रहे है। दोनो ही ठीक हैं। सिर्फ एक जगह उनकी दृष्टि गलती करती है। दुनिया मे कोई वस्तु किसी का मुआवजा नहीं होती हर वस्तु अद्वितीय है, अखण्ड अपनाये से व्याप्त है।"[32]

'अॅधेरे से ऑख मिलाने' के मुहावरे से साही ने 'गॉधी' को हिन्दुस्तान की जिन्दगी का Rythom माना है। कारण कि गॉधी की ऑखे 'अंधकार' से भी ऑखे मिलाती है। और यही दृष्टिकोण गॉधी को रविन्द्रनाथ से अलग करता है। साही के अनुसार वस्तुत. छायावाद युग के अन्तर्ध्वनित सत्य के दो प्रकाश स्तम्भो रवीन्द्रनाथ

और गॉधी जी मे अधकार देखने की क्षमता का ही अन्तर था। "रवीन्द्र नाथ की ऑखे आत्मा का प्रकाश तो देख सकती थी, परन्तु अन्धकार नही, जबकि गॉधी जी अन्धकार से भी ऑखे मिला सकते थे।"[33] और यही स्थिति कालिदास और प्रेमचन्द्र की भी है क्योकि दोनो मे ही 'अधेरे से आख मिलाने की निर्धूम क्षमता' है जिससे एक युग से दूसरा युग सवाद सा करने लगता है।

पर्यावरण के आधार पर साही ने हिन्दी भाषा की मूल प्रकृति को पहचनाने की कोशिश की है। इसदृष्टि से साही 'प्रकृतिवादी समीक्षक' भी लगते है। 'उत्तर प्रदेश' की प्रकृति की बनावट को साही 'पूरवा और पछुआ' हवा के सन्दर्भ से देखते है। पूरवैया हवा बगाल से आती है, जो तीन–चार महीने चलती है, पछुआ पश्चिम से आती है जो सात–आठ महीने चलती है, पुरवैया शरतचन्द्र और रविन्द्रनाथ को लाती है, तो पछुआ दयानन्द सरस्वती को। साही का मानना है कि "उत्तर प्रदेश की या साधारणत हिन्दी भाषा की प्रकृति कुल मिलाकर सयम की अधिक है, वेग के साथ बन्धन को तोडकर बहा ले जाने की कम। शायद कालिदास से हिन्दी ने यही सीखा है, गहरी से गहरी शराब के बावजूद भी, कल्पना की सम्पन्न से सम्पन्न उडानो के बावजूद भी और विलास के बधनहीन अवसरो मे भी कालिदास की आखे नही झपकती।"[34]

साही ने कालिदास के उत्तराधिकार के रूप मे हिन्दी साहित्य की मूल प्रकृति को पकड लिया है क्योकि महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्रशुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त की प्रकृति भी उपर से रूखी–सुखी अन्दर से मुलायम की ही रही है। और यह 'पूरवैया और पछुआ' का सयोजन ही है। तटस्थ आंखो से देखने की क्षमता ही कवि को महान बनाती है यह क्षमता सिर्फ कालिदास मे ही नही, हर युग के महान रचनाकार मे होती है। तुलसीदास–साही के मुताबिक मध्ययुग के दयानन्द सरस्वती है – सूरदास में भी यही क्षमता थी और प्रेमचन्द्र में भी। कालिदास की इसी परम्परा को प्रेमचन्द्र से जोडते हुए साही हिन्दी भाषा के प्राकृतिक पर्यावरण को गहराई से समझते है और स्वीकार करते है कि "हिन्दी की कल्पना चेरापूंजी की जल थल करने वाली वर्षा से उदभूत कल्पना नही है, उसका सौधापन आषाढ के पहले दिन तप्त धरती पर पडी हुई बूंद जैसा है। जिन राष्ट्रीय परिस्थितियो ने बगाल मे शरत

चन्द्र को जन्म दिया, उन्होने हिन्दी मे प्रेमचन्द्र को, कहने मे जैसा भी विरोधाभास लगे लेकिन प्रेमचन्द की ऑखे कालिदास के अधिक निकट है। होशो हवास की दुरस्ती की एक सीमा है जिसके बाहर छायावादी कवि निराला और प्रसाद भी कदम नही रखना चाहते। शरत् बाबू के देवदास की तरह प्रसाद के कंकाल का 'विजय' भी आदिम भावनाओ द्वारा ग्रस्त है, लेकिन भावना के उन तिमिराच्छन्न प्रदेशो का सफर नही करता जहॉ से बगाल के लेखक की यात्रा शुरू होती है।"[35]

यह वही 'कालिदासीय लय' है जिससे साही आधुनिक काल को ही नही उसके राजनीतिक, सास्कृतिक, सामाजिक सन्दर्भों से परखते है, बल्कि फिरदौसी से लेकर कालिदास के मध्य मे हिन्दी को रखकर उसके 'धर्म निरपेक्षता चरित्र की खोज करते है। फिरदौसी का महत्व इसलिए है कि अरब–प्रसूत इस्लाम को स्वीकार करने के बाद भी वह अपने देश ईरान के 'कयानी' राजाओं के पक्ष मे खडा मिलता है। तात्पर्य यह कि वह धर्म के बजाय राष्ट्र की गौरवगाथा गाता है। साही पूछते है कि आखिर 'क्यो ऐसा हुआ कि मुस्लिम भारत मे किसी भारतीय फिरदौसी को जन्म नही दिया?"[36] यह भी सच है कि फिरदौसी जैसी हवाए हिन्दी ही नहीं, पजाबी, काश्मीरी आदि बोलियो मे भी चलती है। हीर–राझॉ, सोहनी महीवाल, सस्सी पुन्नो, पद्मावत आदि लोक भाषा मे रचित ग्रन्थ है। लेकिन वह उडान नही मिलती जो फिरदौसी जैसी हो, आखिर ऐसा क्यो है? क्योकि "फिरदौसी और उसके शाहनामा के प्रवाह का मतलब सिर्फ दूर से झलकने वाली निर्मल मोहिनी और चचल लोकगाथा नही है। वह कुछ और है। वह एक ऐसा प्रभाविक रचनाविधान है जो एक ही बहाव मे लोक संस्कृति और उच्च संस्कृति दोनो को इस तरह जोड देता है कि अतर मिट जाता है।"[37] और हिन्दी की प्रकृति मे ऐसा तत्व नहीं मिलता जिसमे लोकसस्कृति और उच्चसस्कृति को जोड दे, पद्मावत को छोड कर। साही की विशेषता रही है कि वे प्रश्नो को पूछते रहते हैं कोई उत्तर नहीं देते। उनका प्रयास रहता है कि पाठक स्वय निर्णय करे। साही पाठक के ऊपर अपना निर्णय नही थोपते क्योकि उनके लिए आलोचना का काम साहित्यिक समझ विकसित करना है, निर्णय करना नही।

साही के लिए एक तरफ फिरदौसी है तो दूसरी तरफ कालिदास। सस्कृत साहित्य का महत्व कितना है यह अमीर खुसरो के इस व्यक्तव्य से प्रमाणित है कि "मैने इसकी एक बूद चखी है और मालूम हुआ कि 'घाटी मे खोया हुआ पक्षी महानदी के विस्तार से अब तक बिल्कुल वचित रहा है।'[38] इसी सस्कृत साहित्य के महान साहित्यकार कालिदास को पहचानते हुए साही कहते है "पराक्रमी पुरखो से लेकर आखिरी क्षय तक कालिदास जिस तटस्थ भाव से समूचे रघुवंश की तस्वीर हमारे सामने रखते है वह न केवल धर्मनिरपेक्ष है बल्कि कुछ हद तक नीति-निरपेक्ष भी लगती है।"[39] और "यही दोनो मध्यकाल मे दूर पर झलकते है सम्भावना की तरह और बीच के मैदान मे हिदी भाषी उत्तर भारत का काव्य जन्म लेता है।"[40]

मध्यकाल मे लोकभाषा यानी की ब्रज, अवधी काव्यभाषा बनती है। ब्रज सूर से अनुप्राणित होती है तो अवधी तुलसी से। लेकिन इनके पूर्व कबीर और जायसी भी आते है। 'जायसी' की 'मानुष कवि' खोज की पहली पहचान साही 'धर्मनिरपेक्षता' की कसौटी पर ही करते है। जिस 'आन्तरिक लय' से साही फिरदौसी और कालिदास के साथ मध्ययुग के हिंदी साहित्य को जोडते है, उसी 'लय' के साथ 'मध्ययुग' को आधुनिक युग से। जायसी से निराला को। बीच मे रीतिकाल भी है, भारतेन्दु भी है। कुल मिलाकर साही ने साहित्य को इतिहास के पन्ने से देखने के बजाय 'इतिहास निर्माण' की प्रक्रिया से देखा है। जिससे साही काव्यभाषा से लेकर चितन के बदलाव की भाव भूमि को पकडने को कोशिश करते है। निष्कर्षत निश्चित तौर पर एक 'प्रतिमान' नही बन सकता। इसीलिए उनकी आलोचना तार्किक, विश्लेषणात्मक होने के बावजूद खडित सी जान पडती है बकौल मलयज "साही की आलोचना का आकाश खण्डित है।"[42] खण्डित होने का कारण है कि साही 'बहस' यानी की वाद विवाद से उपजे संवाद के आलोचक रहे है। यह और बात है कि सवाद का स्वर कभी धीमा कभी तेज होता रहा है। साही की आलोचना की यही सीमा भी है और सामर्थ्य भी।

'जायसी और कबीर', जायसी और सूर-तुलसी'। साही इन्ही दो बिन्दुओं से मध्यकाल के हिदी साहित्य को परखते है। भक्तिकाल बहुधर्मी चरित्रवाला काल रहा है। लेकिन प्रमुख धर्म था – हिन्दू और इस्लाम। कबीर और जायसी में अन्तर स्पष्ट

करते हुए साही कहते है कि "कबीरदास की चिता थी कि कोई ऐसा आध्यात्म बनाया जाय, जिसमे कोई पौराणिकता हो ही नही। न दशरथ हो, न देवी देवता हो – कोई न हो, केवल आध्यात्म हो।' मिथको को नकारो मत क्योकि उनके कारण बहुत प्रकार के लोगो के जीवन मे रगीनिया आती है। उन रगीनियो को हम नकारे नही केवल उसको तरल कर दे। तो झगडा खत्म हो जायेगा, इस बात की चिता जायसी को थी।' इसीलिए जायसी का तरीका जैसा शुक्ल जी ने बिल्कुल ठीक कहा है, स्वीकार करके चलने वाला है और कबीरदास का नकार करके चलने वाला।"[42] स्वीकार के कवि 'जायसी' को साही धर्म निरपेक्षता का प्रतिमान मानते है और उसके लिए "इतिहास मे डूबकर इतिहास से उबारने वाला अर्थ लेकर बाहर आते है।[43] इतिहास से उबारने वाला अर्थ ही 'मानुष चेतना' है जिसके मूल स्वर को पहचानने की कोशिश साही बार–बार करते है। क्योंकि 'जायसी का प्रस्थान–बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्यध्येय मनुष्य है– मनुष्य जैसा कि वह सामान्य जिदगी मे उठता बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध मे वीरता और कायरता दिखलाता है, राज्य स्थापित करता है, छल कपट बेईमानी और कमीनापन करता है, सम्प्रदाय स्थापित करता है बटोर करने के लिए नारे लगाता है – और इस सबके बाद अपनी पर्याप्तता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है।"[44]

एक तरह से यह साही के चितन का भी प्रस्थान बिन्दु है। बार–बार साही 'साहित्य' को परिभाषित करते रहते हैं। उसका कारण यही है कि वे बार–बार बदलते मनुष्य की मनोभूमि को पकडने की कोशिश करते है जो साहित्य में क्रिया प्रतिक्रिया के रूप मे उपस्थित होता रहता है। कमला प्रसाद के अनुसार "विजयदेव नारायण साही आलोचक के रूप में जीवन भर यह समझने की कोशिश करते रहे कि साहित्य का उद्देश्य क्या है? वे चाहे साहित्य क्यो, लघुमानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस, सत्ता सस्कृति, जनवादी साहित्य में से कोई निबन्ध लिख रहे हो या साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' विषय पर व्याख्यान दे रहे हो – वे साहित्य से अपनी अपेक्षा ही खोजते रहे।"[45]

"साहित्यकार का दायित्व' मे साही एक तरफ विचारधारा परक साहित्य को मूल साहित्य की श्रेणी मे नही मानते है तो दूसरी तरफ कवि के लिए चार अन्तर्ध्वनियॉ की वकालत करते है। ये चार अन्तर्ध्वनियॉ है–"सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, मानवीय चेतना और ब्रह्माण्ड व्यापी चेतना।"[46] इन चारो अन्तर्ध्वनियो को साही कवि मे बराबर का स्थान देते है। उनका मानन है कि अगर एक ही अन्तर्ध्वनि कवि पकडेगा तो उसकी दृष्टि भिन्न हो जायेगी।

साही ने 'काव्यभाषा' के बदलाव को भी बार–बार रेखाकित किया है। 'काव्यभाषा' को लेकर साही द्वारा रीतिकाल की कविता का जो विश्लेषण किया गया है वह विवादास्पद होते हुए भी महत्वपूर्ण है। साही का मानना है कि "एक स्तर पर भाषा, विचार और साहित्य ये भिन्न नही रह जाते और जैसे–जैसे उनमे घनत्व बढता जाता है, वैसे–वैसे लेखक जो उस भाषा से दिन–रात उलझ रहे है, उनके अनुभव समाज के लिए बहुत महत्वपूर्ण होते है। भाषा के स्वरूप के लिए भी महत्वपूर्ण होते है – उस भाषा मे बोलने वालो के लिए भी महत्वपूर्ण होते है।"[47] साही की आलोचना की एक खास विशेषता रही है – वर्तमान से भूत की और वर्तमान से भविष्य की थाह। वस्तुत साही किसी भी युग को समझने के लिए उसके राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक कुल मिलाकर ऐतिहासिक सन्दर्भो को जानना आवश्यक मानते है। इसीलिए साही के विवेचन मे 'काव्यभाषा' का अलग ससार है जिससे प्रतिध्वनित होकर उनकी आलोचना सारगर्भित हो जाती है। कविता की रचना प्रक्रिया से गुजरने का तात्पर्य साही के लिए काव्यभाषा से गुजरना है। शमशेर की काव्यानुभूति की बनावट मे खोज मूलत 'काव्यभाषा' की ही खोज है। साही के अनुसार "कविता शब्दो और शब्दो का संयोग से नही बनती बल्कि शब्दो का जाल जो यथार्थ पर फेका जाता है, उससे बनती है। यह फेंका हुआ जाल ही अर्थ है। और अगर यथार्थ स्थिरता नही गत्यात्मकता प्रक्रिया है तो शब्दार्थ को भी गत्यात्मक प्रक्रिया होना पडेगा।"[48] सामान्य भाषा से काव्यभाषा मे परिवर्तन को शमशेर के लक्षित करते हुए सन्दर्भ से साही कहते हैं कि "शब्द जो जड थे सहसा पोले पडने लगते है। शब्द की जड अवस्था वह है जो उनको रूढ अर्थो के पाश मे बॉधती है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध एक अचल स्थिरता की तरह परिभाषाबद्ध हो

जाता है। उनके पोले पडने का मतलब है कि अर्थ को परिभाषा के तात्विक कैवल्य की भॉति नही, बल्कि प्रक्रिया की तरह देखा जाय। तब शब्द के पाश टूटते लगते है और वे परिभाषा का अर्थ नही जीवन की अनुभूति का अर्थ देते है।"[49]

रीतिकालीन कविता को हिदी आलोचको ने सामाजिक सन्दर्भों से हीन माना है। वस्तुत विलास प्रधान काव्य होने के कारण इस युग की कविता मे वह तेजस्विता नही है, जो भक्तिकाल की कविता मे मिलती है। पर साही इसके उलट अपना मतव्य स्पष्ट करते है। साही का मानना है कि "ब्रजभाषा कवियो ने सबसे बडा कमाल यह किया कि जब एक ओर राजनैतिक एकता टुकडे–टुकडे हो रही थी उन्होने आज जो हिन्दी भाषा क्षेत्र कहलाता है, इस पूरे क्षेत्र के लिए बडे मनोयोग से एक सर्वमान्य भाषायी माध्यम निर्मित कर डाला। इतना ही नही उसे परवान भी चढाया। पूरे क्षेत्र को एक समान रूचि और भाव–भंगिमा दी। और लोक भाषा मे तराश और प्रगल्भता की वह गति खोज निकाली जो न सिर्फ सात समुन्दर पार उसी समय के अग्रेजी मेटाफिजिकल कवियो की बौद्धिकता जैसी लगती है, बल्कि बात पैदा करने मे उससे आगे भी निकल जाती है। पंजाब से लेकर मिथिला तक और काश्मीर से लेकर सतारा तक का हृदय एक तरह धडकाना सिर्फ दरबारी विलासिता की विमूढ रूपवादिता के बूते का काम नहीं, कुछ और है जो बिहारी के दोहो को बॉकी मुस्तैदी और घनान्द के स्वर को कसकता हुआ पकापन देता है।"[50] रीतिकाल की एकतान भाषा का स्वर भक्तिकाल की कविता से भिन्न है। भक्तिकाल मे कविता का सामाजिक दायरा अधिक विस्तृत है लेकिन ऐसा कुछ है जो पूरे काल को एक सूत्र मे नही बॉध पाता। साही के अनुसार "समूचाभक्ति काव्य विशेषत श्रेष्ठकाव्य है, फिर भी स्थानीय बोलियो मे बंटा दिखता है। मीरा राजस्थानी मे लिखती है, विद्यापति मैथिली मे, कबीर दास अनगढ खिचडी में, सूरदास ब्रज मे, तुलसीदास अवधी मे यहॉ तक कि प्रतिभा के धनी खानखाना भी कई आवाजो मे बोलते है। इतना ही नही सूरदास बहुत बडे कवि है, रीति कवियो से कही बडे लेकिन उनकी कविता मे बराबर लगता है कि एक महान् प्रतिभा अपने को ब्रजभाषा मे अभिव्यक्त कर रही है। जब कि रीतिकाव्य मे लगता है कि कवियो से अलग ब्रजभाषा की अपनी प्रतिभा की अभिव्यक्ति हो रही है। भाषा की अपनी प्रतिभा की

अभिव्यक्ति ही वह सृजनात्मक स्तरीकरण है जो भाषा को सबकी सम्पत्ति बना देता है।"[51]

साही की आलोचना की एक खास विशेषता रही है कि वे जिस आधार पर मूल्याकन करते है उस आधार को उसके परिणाम तक ले जाते है वस्तुत एक तरह की 'समकालीनता' का प्रतिमान बनाते है। सत्यप्रकाश मिश्र के अनुसार "साही मे यह एक आश्चर्य जनक प्रक्रिया है कि वे समकालीनता को मापदण्ड मानते है और इतिहास की प्रक्रिया को ऐसी रासायनिक प्रक्रिया के रूप में जो निरन्तर तत्वो को घुलाती रहती है और सर्वथा नवीन तत्वो को जन्म देती रहती है।"[52]

काव्यभाषा की 'आन्तरिक लय' की आवाज ही साही को अग्रेजी और हिन्दी शब्दो को लेकर 'उधेड बुन' करने को उत्तेजित करती है। साही की आलोचना की 'लम्बी बहस' में काव्यभाषा किस प्रकार एक तत्व का काम करती है इसे 'अंग्रेजी शब्दो का प्रयोग और अभिव्यजना की कुछ समस्याएँ' से समझा जा सकता है। हिन्दी कविता मे अग्रेजी शब्दो के प्रयोग की समस्या मुख्यत 'आधुनिक काल' मे छायावाद के बाद की 'कविता' से शुरू होता है। साही के लिए यह सृजनात्मकता की गहरी चुनौती के रूप मे है ठीक उसी प्रकार जैसे ब्रजभाषा रीतिकाल मे फारसी के लिए चुनौती बनती है। सृजनात्मकता की इसी चुनौती से साही 'आंचलिकता' की परिभाषा को नये रूप से परिभाषित करते है "अभिव्यजंना की केन्द्रीय समस्या वहाँ उठती है जहाँ असन्दिग्ध रूप से 'अहिन्दी–अग्रेजी' शब्दो का प्रयोग किया जाता है। उपन्यासो, कहानियो, नाटको आदि मे अंग्रेजी शब्दो और कहीं कही तो पूरे वाक्यो का, विशेषत कथोपकथन मे प्रयोग मिलता है जो निस्सन्देह अहिन्दी–अग्रेजी है। ये प्रयोग एक तरह के आचलिक प्रयोग है या अक्सर हूबहू यथार्थ चित्रण की चिन्ता से उपजते है। कुल मिलाकर हूबहू यथार्थ चित्रण अथवा आचलिकता किसी साहित्य की मुख्य धारा नही हो सकती इसलिए ये प्रयोग जहाँ अंशत उचित दिखते है, वही वे अभिव्यजना की शक्ति को सीमित भी करते है।"[53] इसीलिए साही को 'नदी के द्वीप' मे महानगरीय आचलिकता मिलती है। साही जिस तरह से अग्रेजी शब्दो को ध्यान मे रखकर आचलिकता को इतिहास, महानगर से जोड़कर देखते है उसके मूल मे कही न कही उनका 'भारत बिम्ब' गहरे अर्थ में जुडा हुआ है। सत्य

प्रकार मिश्र का कहना है कि "मेरी राय मे साही इसका कारण जिस मनोभूमि को मानते है उसमे वह औपनिवेशिकता भी शामिल है। जो इस भाषा मे इस प्रकार के वर्गाश्रयी प्रयोगो को अनजाने पैदा करती है। फ्रान्ज फेनान ने 'रेचेड आफ दि अर्थ' मे राष्ट्रीय सस्कृति का विवेचन करते हुए इस प्रकार की बाधा और चालाकी का उल्लेख किया है। भाषा मे एकतान प्रसार मे आचलिकता का यह प्रयोग औपनिवेशिकता के निशानो के रूप मे पाया जाता है।"[54] साही ने 'आंचलिकता' मे छविमयता और सिलवटो की भाषा का विरोध किया। 'छविमयता और सिलवटो की भाषा' को महत्वपूर्ण न मानने का कारण इसलिए है कि इससे साहित्य मे एक तरह की वर्गाश्रयी मानसिकता उभरती है।

प्रेमचन्द्र के उपन्यासो की आचलिक उपन्यासो खासकर रेणु के मैला आंचल से तुलना करते हुए साही कहते है कि "आचलिकता दृष्टि और वर्णन शैली मे शब्दावली के आपसी रिश्ते मे निहित होती है।"[55] इसीलिए प्रेमचन्द के उपन्यासो मे आचलिकता नही है "क्योकि उनके गॉवो की कोई स्वत. सम्पूर्ण सत्ता इस आधार पर नही बनती कि जीवन का मौलिक उद्भावना ही यहॉ पाठक के जीवन मूल्यो से अलग स्तर पर हो। उनके गाव पूरे समाज के अग है, स्वत. सम्पूर्ण छविमय समाज नही।"[56] जबकि 'मैला–ऑचल' मे खडी बोली बनाम लोकबोली का एक नया ससार रचने का प्रयास मिलता है। तात्पर्य यह कि रेणु के "मैला–ऑचल मे वर्णन शैली में ही हमे दो दृष्टियो का बोध होता रहता है – एक खडी बोली द्वारा अभिव्यजित वह जीवन स्तर जो अप्रस्तुत है, लेकिन जहॉ से दूरबीन लगाकर पाठक और लेखक दोनो ही उस अचल को देखते है, दूसरे आंचलिक शब्दावली द्वारा चित्रित भिन्न स्तर पर बीतता हुआ वह छविमय जीवन जिनकी शर्तें बिल्कुल अलग है। हम बराबर उस खाई से अवगत रहते है जो खडी बोली मे स्थित पाठक एवं वर्णनकार को आचलिक शब्दावली मे स्थित आचलिकता समाज से अलग करती है।"[57]

आचलिक शब्दावली का गीतिमय व्यापार मुख्यतः तीन तत्वो पर आधारित होता है, खाई, चेतना की स्वतन्त्रता सत्ता और यथार्थ की अविकल छविमयता'। 'नदी के द्वीप' को आचलिक मानने का कारण अन्य तत्वो के अलावा प्रमुख कारण छविमयता, 'सिलवटो की भाषा' है। साही लिखते है कि "अज्ञेय के 'नदी के द्वीप'

को आचलिक कहना शायद अनुचित है या आकस्मिक जान पडे। वह किसी भौगोलिक अचल की कथा नही है। लेकिन यदि हम आचलिकता को कथाकार की दृष्टि से सम्बद्ध माने और परिभाषा के अनुसार कटे हुए, अपने आप मे बन्द, स्वत सम्पूर्ण समाज की उद्भावना और छविमयता को उसकी कसौटी माने तो आचलिक दृष्टि के तत्व उसमे मिलेगे। एक अर्थ मे उसके मुख्य पात्र केवल व्यक्ति या वर्ग विशेष नही है – वे मिलाकर एक अलग 'समाज' का निर्माण करते दिखते है। बेशक इस समाज की स्वत सम्पूर्णता उतनी चरम नही है जितनी 'मैला आचल' के समाज की। वस्तुत· इस समाज का समाज न बनकर जगमगाते द्वीपो की तरह विखर–विखर जाना ही कथाकार का महत्वपूर्ण कथा है। मगर इसके पीछे उपन्यास–कार की मौलिक तलाश ही है जो खाई के उस पार अन्य मूल्यो पर आधारित एक भिन्न सामाजिकता की छविमय सम्भावना को देखना चाहती है। दीपक की लौ की तरह इस सम्भावना का अस्तित्व और निर्वाण एक ही प्रक्रिया का नाम है जो इस ज्योतिर्मय 'दुखभरी कहानी' को जन्म देती है। इस अर्थ मे नदी के द्वीप मे आचलिकता का आभास होता है – खाई, चेतना की स्वतन्त्र सत्ता और यथार्थ छविमयता। ध्यान मे रखना जरूरी है कि आचलिकता इन पात्रो मे थी उनके सामाजिक वर्ग मे नही है, बल्कि उनके वर्ग की ओर जो कथाकार की विशिष्ट उन्मुखता है, उसके कारण है। इन्ही पात्रो की कहानी बिना आंचलिकता के भी कही जा सकती थी जिस तरह पूर्णिया जिले के किसानो की कहानी प्रेमचन्द्र की तरह बिना 'छविमयता' के कही जा सकती थी। व्यर्थ विवाद से बचाने के लिए हम इस दृष्टि को 'अर्ध आचलिकता' या द्वीपभावी या कोई अन्य नाम दे दें। मेरा मूल आग्रह उस खाई पर है जो इस कथा के सौन्दर्य बोध का अभिन्न अग है।"[58]

वस्तुत साही ने नदी के द्वीप को जिस 'मनोभूमि' के तहत देखा है उसमे अज्ञेय की सृजनशीलता की समझने में ही नही, बल्कि सृजनशीलता किस तरह तथ्य को रागात्मकता से दीप्त करती है पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

जिस तरह से साही आचलिकता को परिभाषित करते है उससे तो सारा का सारा हिन्दी कथा साहित्य आंचलिकता ही माना जा सकता है। साही इस बात को स्वय स्वीकार भी करते है, लेकिन वे कथा साहित्य की भर्त्सना नहीं करते, परन्तु

अन्तत परिणाम तो यही निकलता है। पर सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साही आलोचक की दृष्टि से मूल्याकन का एक मानदण्ड विकसित करते है, जिसे किसी भी विधा पर लागू किया जा सकता है। सत्यप्रकाश मिश्र भी इससे सहमत होते हुए कहते है कि "नरेश मेहता, शैलेश मटियानी और लक्ष्मीकान्त वर्मा भाषा के मत्रत्व की जब बात करते है तो उनका भी तात्पर्य वस्तुत· उस माध्यमहीनता से ही है, जिसे एक स्तर पर साही भी चाहते है, समाप्त हो जाय, अर्थात् भाषा न रहकर वाणी हो जाए। इसे धार्मिक दृष्टि कहा जा सकता है परन्तु धार्मिकता केवल साम्य नही, वह एक विश्वास है, जो टी०एस० इलियट मे है, वात्स्यायन मे नही। इसीलिए टी०एस० इलियट की निर्वैयक्तिक धार्मिकता धार्मिक है, और वात्स्यायन की वैज्ञानिक। इसे 'भाषा की जादूई शक्ति' के रूप मे समझने से भ्रम उत्पन्न होता है क्योकि यह प्रक्रिया रचना के भीतर से समग्रता मे ही ध्वनित होती है और साही रचना को उसकी समग्रता मे देखने की पद्धति मे विश्वास करते है, जिसे समाज व्यक्ति समाज की भॉति सम्पूर्णता–खण्ड सम्पूर्णता के रूप मे समझा जा सकता है।"[59]

सत्यप्रकाश मिश्र ने 'साही' की मनोभूमि को उनकी आन्तरिक लय को सही पकडा है। साही का स्वय का निष्कर्ष है जो मूलत· उनके 'भाषा' के प्रतिमान के रूप मे है "सृजन के अन्तिम छोर पर कला का सदर्भपूर्ण स्वातत्य है। भाषा के कृतिकार के दायित्व की कसौटी यह नही होगी कि जिस–भाव–सन्दर्भ को उसने चुना उसके उपयुक्त भाषा की चूल बैठायी या नही, बल्कि यह कि भाषा का जो दाय उसे पूर्वजो से मिला था उसके साथ वह क्या कर सकता था और क्या उसने किया, किन सन्दर्भों का निर्माण वह कर सकता था और किनका उसने किया।"[60]

भाषा के लिए यह प्रतिमान उनकी सम्पूर्ण आलोचना मे 'खोज' के विषय के रूप मे है। इस दृष्टिकोण से साही की उस मानसिक बनावट की भी 'खोज' होती रहती है जो उन्हे बारम्बार लकीर के आगे कुछ भरना चाहिए – के लिए प्रेरित करती है। इतिहास जो बीच चुका है साही के लिए बस इतना ही नही है, बल्कि उसमे वृद्धि करना भी दायित्व है। इसीलिए 'साही' के प्रतिमान की दुनिया इकहरी नही है, बल्कि ग्रहीत ज्ञानराशि के सयोजन परीक्षण से निर्मित बहुस्पर्शी दुनिया है। आलोचक के रूप मे साही 'साहित्य और मुनष्य' की क्रिया–प्रतिक्रिया–जिसमे क्रिया

का तत्व अधिक है से समाज को समझने का प्रयास करते है और इसलिए साहित्य को समझने के लिए मनुष्य के समस्त कृतित्व को समझना आवश्यक मानते हैं। साही के समाजवादी चितन मे समाजवादी दृष्टि के साथ–साथ साहित्यिक दृष्टि भी बराबर 'सृजनशीलता' के लिए उत्प्रेरित करती है। व्यापक अध्ययन, गहरी अर्थ मीमासा युक्त अनुभव और वैज्ञानिक तार्किक दृष्टि के साथ–साथ हिन्दी, फारसी अग्रेजी और फ्रेच भाषा का ज्ञान सब मिलकर एक ऐसी बौद्धिक अर्न्तदृष्टि विकसित करते है जिससे वे रचना के मर्म को समझकर उसे अपने तर्क से सिद्ध करने मे सक्षम होते है। इसीलिए सत्य प्रकाश मिश्र का कहना है कि "वे राजशेखर के 'आरोवकी' और 'तत्वाभिनिवेशी' के मिले–जुले रूप थे। या रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी दोनो थे।"[61]

फूटनोट

1 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 212
2 मार्क्स गॉधी एण्ड सोशलिज्म – राममनोहर लोहिया पृ० 137
3 अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक स० राजेन्द्र कुमार पृ० 88
4 वर्धमान और पतनशील – विजयदेव नारायण साही पृ० 83
5 साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 23
6 साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 23
7 जायसी – विजयदेव नारायण साही पृ० 65
8 अभिप्राय (पत्रिका) – विजयदेव नारायण साही पृ० 94
9 छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 273
10 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 261
11 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
12 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
13 अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक स० राजेन्द्र कुमार पृ० 68
14 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 261
15 अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक स० राजेन्द्र कुमार पृ० 97
16. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
17 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 260
18. साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 19–20
19. तीसरा सप्तक – सम्पादक अज्ञेय पृ० 182
20. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 98
21. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 208
22. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक स० राजेन्द्र कुमार पृ० 100
23. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 119
24. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 120
25. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 120
26. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 121
27 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 121
28. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 121
29. जायसी – विजयदेव नारायण साही पृ० 91
30. पूर्वग्रह (पत्रिका) – साही विशेषाक सं० रमेशचन्द्र शाह पृ० 59
31 साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 27
32 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 314
33 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 284
34. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 271–72
35. छठवां दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 272
36. साहित्य क्यों ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 43
37. साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 43

38. साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 44
39 साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 44
40 साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 44
41 पूर्वग्रह (पत्रिका) – साही विशेषाक स० रमेशचन्द्र शाह से उदघृत पृ० 60
42 वर्धमान और पतनशील – विजयदेव नारायण साही पृ० 103
43. पूर्वग्रह (पत्रिका) – साही विशेषाक सं० रमेशचन्द्र शाह पृ० 61
44 जायसी – विजयदेव नारायण साही पृ० 62
45. अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक स० राजेन्द्र कुमार पृ० 67
46 साहित्य और साहित्यकार का दायित्व – विजयदेव नारायण साही पृ० 54
47 साहित्य और साहित्यकार का दायित्व – विजयदेव नारायण साही पृ० 30
48. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 218
49. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 217
50 साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 90
51. साहित्य क्यो ? – विजयदेव नारायण साही पृ० 90–91
52 अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक स० राजेन्द्र कुमार पृ० 108
53. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224
54 अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक सं० राजेन्द्र कुमार पृ० 109
55. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224
56. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224–25
57 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 224–25
58 छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 226–27
59 अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक स० राजेन्दग्र कुमार पृ० 110–11
60. छठवा दशक – विजयदेव नारायण साही पृ० 257
61 अभिप्राय (पत्रिका) – साही विशेषाक – स० राजेन्द्र कुमार पृ० 121

पंचम अध्याय

विजयदेव नारायण साही की सांस्कृतिक दृष्टि

किसी भी रचनाकार मे–चाहे वह कविता लिख रहा हो, कहानी, उपन्यास, नाटक लिख रहा हो–चाहे वह इन सभी विधाओ की आलोचना कर रहा हो उसके विचारो की भावभूमि को पकडने का सबसे सशक्त माध्यम उसकी 'सास्कृतिक दृष्टि' होती है। 'सास्कृतिक–दृष्टि' से न सिर्फ उसके विचारो की भाव–भूमि का पता चला है बल्कि उसके यथार्थवादी रचनात्मकता से सम–सामयिक 'रचना दृष्टि' को भी परखने का मौका मिलता है। किसी भी आलोचक की 'सास्कृतिक–दृष्टि' को परखने का मतलब होता है कि उसके सस्कृति, मानवता, वर्ण–व्यवस्था, जाति व्यवस्था राष्ट्रीयता, काल, प्रकृति, समाज को देखने की दृष्टि को परखना। इस दृष्टि से अगर विजयदेव नारायण साही की 'सास्कृतिक–दृष्टि' को परखने का पैमाना उपयुक्त तत्वो को बनाया जा तो साही की सास्कृतिक 'दृष्टि' को परख पाना मुश्किल है।

'साही' एक कवि, आलोचक चिन्तक होने के साथ–साथ एक राजनैतिक व्यक्तित्व के भी पुरोधा रहे है। साही के लिए राजनीति और साहित्य के सम्बन्धो की परख उधार की अनुभूति नही रही है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है साही ने समाज को सिर्फ एक साहित्यकार की दृष्टि से ही नही, बल्कि एक राजनीतिक दृष्टि से भी देखा–परखा। इन्ही 'मनोभूमियो' की भाव–भूमि से साही के 'सास्कृतिक–दृष्टिकोण' को देखना उपयुक्त होगा।

साही राजनीति मे 'लोहिया' के सहयोगी रहे हैं। 'लोहिया' की समाजवादी राजनीति मे पूर्ण आस्था रही है। 'लोहिया' के विचारों की छाप साही मे अक्सर पडती मिलती है, तो स्वभाविक है कि लोहिया की सांस्कृतिक दृष्टि को केन्द्र मे रखकर साही की दृष्टि को समझा जा सकता है। पिछले अध्याय में मैं बता चुका हूँ कि साही का मार्क्सवादी दृष्टिकोण से साहित्य को परखने वालो से वैचारिक मतभेद बराबर बना रहा। साही साहित्य में किसी 'वाद' के आधार पर रचना करने वालों को साहित्यिक की श्रेणी मे नही रखते।

राजनीति मे साही के गुरू लोहिया मार्क्सवादी विचारधारा से विरोध रखते रहे। दरअसल यह विरोध किसी पूर्वग्रह वश नही था बल्कि शुद्ध भारतीय चितन

परम्परा से ओत–प्रोत होने के कारण था। साही मे इसे 'भारत–विम्ब' के रूप मे देखा जा सकता है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि भारत का लोकनायक वही हो सकता है जिसमे समन्वय की विराट् चेष्टा हो। इस दृष्टि से गॉधी मे यह क्षमता रही है, नेहरू मे रही है, बहुत हद तक लोहिया मे भी। इन सभी विचारको ने सस्कृति मे समन्वय की बात कही है लेकिन लोहिया के बहुत से विचार सहमति की विचार–पद्धति पर आधारित है तो बहुत से समन्वय की पद्धति पर। सहमति और समन्वय मे अन्तर होता है। इस दृष्टि से साही के साहित्यिक अवदानो को देखा जाय तो साही 'सहमति' सिद्धान्त के प्रखर विरोधी रहे है। 'समन्वयवाद' की परिकल्पना भी शायद उस रूप मे नहीं मिलती जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तावित किया है। मेरा मकसद यहॉ लोहिया की राजनीति को साही के साहित्य में परखने का नही है, सिर्फ यह रेखाकित करने का प्रयास है कि साही अपने सहयोगियो के साथ कैसे उस मनोभूमि को परखते रहे हैं जिसमे फिरदौसी भी है, जायसी भी है, कालिदास भी है तो प्रेमचन्द भी है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने साही के व्यक्तित्व को परखते हुए लिखा है कि "साहित्य मे साही के होने का मतलब ही था चुनौती का होना"[1] चुनौती के ही स्वर मे साही ने बार–बार भारत मे 'हिन्दू–मुस्लिम' दो संस्कृतियो को समझने का प्रयास किया है। बार–बार वे इस प्रश्न से जुझते है कि आखिर वह कौन सा रास्ता है जिससे दोनो सस्कृतियो का आपस मे सामजस्य बैठ सकता है। वस्तुत· यह 'समन्वय की विराट् चेष्टा' का ही मुहावरा है। 'धर्म निरपेक्षता की खोज मे हिन्दी साहित्य और उसके पडोस पर एक दृष्टि' से साही ने 'दिनमान' में तीन लेखो की लेखमाला लिखी है। जिसमे साही ने साफ–साफ कहा है कि "धर्म निरपेक्षता कोई परिभाषित प्रत्यय नही है। बल्कि यह प्रक्रिया है।"[2] बीसवी शताब्दी के मुहाने पर भारतीय जनता–जिसमे हिन्दू भी थे, मुसलमान भी थे, का अग्रेजो के विरूद्ध जो सघर्ष चल रहा था उसमे धीरे–धीरे दरार पडने लगी थी। उस दरार को भरने का अथक प्रयास किया महात्मा गॉधी ने। लेकिन सारी कवायद के बावजूद 1947 में भारत पाकिस्तान का बॅटवारा हो गया। यह बॅटवारा सिर्फ दो राष्ट्रों का ही नही था

बल्कि दो सस्कृतियो की असफलता भी थी। साही ने इस दौर को केन्द्र मे रखकर मध्यकाल की उस युग–भूमि को देखने का प्रयास किया है जब मुगल बादशाहो ने भारत मे अपनी सत्ता स्थापित की। क्या वह दौर भी ऐसी ही मन. स्थितियो से नही गुजर रहा था? साही की सारी 'उधेड–बुन' इन्ही दो सस्कृतियों के टकराव और उसके समन्वय को लेकर है।

साही का मानना है कि "हिन्दुस्तान मे धर्मान्ध और धर्मनिरपेक्ष तत्वो की 'उधेडबुन' करने पर दो तरह की प्रक्रियाए सामने आती है। एक प्रक्रिया तो खासतौर पर हिन्दू मुस्लिम रिश्तो को लेकर चलती है। इस स्थित मे टकराव भी है, समझौता भी है। विभाजन भी है, समन्वय भी है। यह प्रक्रिया बहुत पुरानी है। इसकी जडे हमारे मध्यकाल मे है।"[3]

मध्यकाल मे इन दोनो सस्कृतियो की जडो की खोज मे ही साही 'जायसी' तक पहुँचते है। आखिर जायसी ही ऐसे क्यो मिले? कबीर भी थे, सूर भी थे, तुलसी भी थे? साथ ही दूसरा सवाल उठता है कि भारत मे 'संस्कृतियो' की यह टकराहट सिर्फ 'भक्तिकाल' मे ही हो, ऐसा तो नही है। इसके पूर्व भी भिन्न–भिन्न सस्कृतियो की टकराहट होती है? दरअसल साही के सामने मुख्य प्रश्न हिन्दू–मुस्लिम की एकता का था। 47 की आजादी के बाद जब दो देशो का निर्माण दो सस्कृतियो के आधार पर हुआ, तो वहॉ भी प्रश्न 'हिन्दू–मुस्लिम' का ही था, हूणो, शको का नहीं। यही नही 'अग्रेजी' मनोभावो का भी नहीं था। क्योकि कही न कहीं भारतीय जनमानस यूरोपीय सस्कृति में समन्वय करने में सफल हो गया था। यह अलग बात है कि इसमे तत्वो के सम्मिश्रण का अनुपात कुछ गड़बड़ है। धर्मनिरपेक्षता की खोज मे 'जायसी' तक पहुॅचने का कारण साही के लिए सिर्फ इसलिए नही था कि जायसी मुसलमान थे और कविता अवधी मे करते थे। बल्कि वह चेतना थी जिससे जायसी 'मनुष्य' की कविता करने मे सफल हो सके। साही ने 'जायसी' को केन्द्र मे रखकर जहॉ एक तरफ 'भक्तिकाल' की कविता की धर्म सम्बन्धित अनुभूति का जायजा लिया है, वही इसी के माध्यम से हिन्दू मुस्लिम धर्म मे समन्वय की चेष्टा का भी प्रयास किया है।

साही धर्म निरपेक्षता को दो भागो मे बॉटकर देखते है। एक–समान दूरी वाली धर्म निरपेक्षता, दूसरी–धर्मनिरपेक्ष धर्म निरपेक्षता। एक समान वाली धर्म निरपेक्षता को कबीर के सन्दर्भ से व्याख्यायित करते हुए साही कहते है कि कबीर मे यह तत्व सबसे अधिक है। कबीर के सन्दर्भ को रेखाकित करते हुए साही 'आधुनिकता' के पहलू से भी 'धर्म पर विचार करते है। "कबीर दास को हम क्या कहे? धर्मान्ध या धर्मनिरपेक्ष? इस तरह पूछने पर फौरन लगता है कि सिर्फ दो चौखट्टे काफी नही है। और भी होने चाहिए। इसी से साबित होता है कि धर्म निरपेक्षता का सवाल उतना इकहरा नही है जितना सिर्फ यूरोप के अनुभव को देखकर मान लिया जाता है। हिन्दू और मुसलमान दोनों से समान दूरी पर अपने को जगाने की कबीर की कोशिश को सब जानते है। इस मशा से वह धर्म को बल्कि दोनो धर्मों को निचोडते है। धर्म का एक काम यह भी होता है कि वह कुछ दुनियावी चीजो को 'पावनता' से मडित करता है और बाकी को 'अपावन' बनाता है। धर्मान्धिता मे यह पावन–अपावन टक्कर बडी उग्र हो जाती है और बहुतों को लपेटती है। कबीरदास की निचोड धर्म के पावन तत्व को मुनष्य की सहज आतरिकता मे सीमित कर देती है। दुनिया खाली हो जाती है बाहरी बाते 'पावनता' के घेरे के बाहर हो जाती है, गौण या निरर्थक हो जाती है। दूसरे शब्दों में यह ललकार चालू पावनता को धर्मनिरपेक्षता मे बदलने का ढग है। इन सब धर्मों से समान दूरी का प्रयास, धर्मनिरपेक्षता उपजाता है।"[4]

कबीर का जो समन्वय का प्रयास था वह एक 'नई दुनिया' की स्थापना मे था। लेकिन समाज को जोडने का प्रयास उसके भीतर से ही होना चाहिए, किसी भी तरह से अलग होकर नही। इस दृष्टि से 'जायसी' अधिक महत्वपूर्ण है जिन्होने धर्म के अन्दर रहकर भी 'धर्मनिरपेक्षता की खोज की है। साही लिखते है "जायसी कबीर से भिन्न है। वह अपने इस्लाम मे दृढ है। लेकिन अभिव्यक्ति के लिए लोक भाषा को चुनते है। यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता तोड़ते हैं। पद्मावत मे वह मानवीय प्रेम के उस रसायन का आविष्कार करते है जो मनुष्य को मुट्ठीभर धूल से उठा कर 'बैकुठी' बनाता है।"[5]

जायसी 'मानुष–प्रेम' को बैकुठी बनाने में दो तरफा चुनौती का समाना करते है। प्रेम को बैकुठी बनाने का काम ईरान मे भी सूफियो ने किया है। लेकिन जायसी इससे एक कदम आगे बढते है "जायसी अपने परिवेश और काव्य–माध्यम के चुनाव के कारण ईरानी सूफियो से कुछ आगे बढने को विवश है। ईरान के सूफियो के सामने सिर्फ एक धर्म था – इस्लाम, उसी को उन्होने प्रेम रसायन डालकर निचोडा, लेकिन जायसी के सामने दुहरी चुनौती थी। अगर यह रसायन मनुष्य मात्र के हृदय मे है तो सबको निचोडेगा। इस तरह एक धर्म का सारतत्व सब धर्मों का सारतत्व बनता है। जायसी का तसव्वुफ आगे बढकर बिना अपने इस्लाम को छोडे, हिदू धर्म के मर्म को स्पर्श करता है। कविता मे एक तत्काल नतीजा यह निकलता है कि धारणाओ, प्रत्ययो, प्रतीको, पुराकथाओ, मिथको, शब्दो की एक उभयधर्मी या बहुधर्मी दुनिया खडी हो जाती है, जो किसी एक धर्म के पाश से मुक्त हो जाती है। दीवारे टूटने लगती है। 'कविलास' और 'जन्नत' का फर्क मिट जाता है। . . सक्षेप मे जकडबन्द धार्मिक प्रतीक प्रत्यय या मानवीय प्रतीकों में बदलकर धर्मनिरपेक्ष होने लगते है।"[6]

जायसी का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने इतिहास की यथार्थता को उसके उसी रूप मे प्रस्तुत किया है जैसा वह मूलरूप मे था। इस दृष्टि से जायसी ने एक जोखम उठाने का काम किया। एक तरफ वे अलाउद्दीन की विजय को स्वीकार करते है दूसरी तरफ जौहर होती हुई स्त्रियॉ का वर्णन भी करते है। जायसी शुद्धरूप से 'हिन्दू–मुस्लिम' टक्कर को बिना किसी लाग–लपेट के व्याख्यायित करते है। "लगता है कि वह जानबूझकर उस अलौकिक प्रेम–रसायन को दुखती रगो के सग्राम मे डालकर परखना चाहते है कि इसमे कुछ दम भी है या सिर्फ लफ्फाजी है।"[7]

साही का मानना है कि जायसी के बाद के भक्ति कवि सूरदास, तुलसीदास ऐसा नही कर पाते। आखिर क्यों? क्योंकि "सूरदास की धार्मिक अनुभूति परमदर्शन को इतना घनत्व दे देती है कि वह उनके भीतर ही समूचा समा जाता है। बाहर कोई वृन्दावन नही बचता या अगर बचता भी है तो असली वृन्दावन के निमित्त छूछे सकेत की ही तरह। जबकि तुलसीदास थोडे भिन्न है। यह सही है कि उनकी

धार्मिक अनुभूति भी मुख्यत उनके मर्म मे ही लहराती है, लेकिन कुछ बाहर भी झलकती है। हमारी रोजमर्रा की दुनिया में भी पावन–अपावन का भेद पैदा करती दिखती है।"[8]

वस्तुत साही जिस समन्वय की बात कर रहे थे उससे उनका मतव्य था कि समाज को उसके सभी सन्दर्भों से जोडकर परख कर देखना ही महत्वपूर्ण होता है। किसी भी मर्ज को जड से उखाड फेकना जरूरी है न कि उस पर कोई लीपा पोती करना या उससे पलायन करना। साथ ही यह स्वीकार भी है कि आधुनिक भारत का सास्कृतिक समाज सिर्फ 'हिन्दू धर्म' से परिचालित नही हो सकता उसमे उतना ही महत्व अन्य धर्मों खासकर 'मुस्लिम धर्म' का भी है। क्योकि "जब दो या अधिक धर्मो मे टकराव होता है तो आदमी तर्कश तीन धारणाएँ बना सकता है। पहली धर्म मे सार है, बाकी निस्सार है। दूसरी सभी धर्मों मे सार है। तीसरी सभी धर्म निस्सार है। पहली धारणा अगर धर्मान्ध है तो अतिम दोनो धर्मनिरपेक्ष होगी।"[9] और यही दूसरी धारणा– एक समान दूरी वाली धर्म निरपेक्षता है तो तीसरी निरर्थकता वाली धर्म निरपेक्षता है।

साही अपने विचार क्रम मे मध्यकाल मे ही नही प्रविष्ट होते बल्कि मध्यकाल की इस्लामी मनोवृत्ति की पहचान करने मे खैबर दर्रे के उस पार तक जाते है। साही की एक खास विशेषता रही है कि वे अपनी बात को इधर–उधर से खोद–खोदकर देखते है। हिन्दुस्तान के मुस्लिम राज्य और ईरान के मुस्लिम राज्य को एक साथ देखने का क्या औचित्य? औचित्य है; क्योंकि भारत में स्थापित मुस्लिम राज्य सिर्फ 'इस्लाम' का प्रतिबिम्ब नही है बल्कि एक भारतीय जनमानस का वह प्रतिबिम्ब जिसमे कितना हिन्दू है कितना मुसलमान, कितना अलाउद्दीन है कितना पद्मावती का भी प्रतिबिम्ब है। ईरान मे राष्ट्रीयता की एक लहर महमूद गजनवी से थोडा पहले उठी उमर खलिफा के सहयोगी साथियों ने पूरे ईरान के साहित्य को जलाकर नष्ट कर दिया। लेकिन सारा प्रयास निरर्थक साबित हो गया जब ईरान के साहित्यकारो ने उसके समूचे इतिहास को फिर से जिन्दा कर दिया। साही 'फिरदौसी' के 'शाहनामा' को एक क्रान्तिकारी पुस्तक के रूप मे स्वीकार करते हुए कहते है कि "महमूद गजनवी के दमन के बावजूद शाहनामा अमर हुआ। इतना

ही नही, फिरदौसी की दृष्टि इस मामले मे बिलकुल साफ है कि अरब विजेताओ के विरूद्ध लडाई, ईरान की राष्ट्रीय अत धर्म निरपेक्ष लडाई है जिसमे ईरान की समूची परम्परा को जीवित रखने की जरूरत है।"[10] लेकिन भारत मे ऐसा नही हुआ, कोई फिरदौसी जन्म नही लेता? लोक गाथाये जिसमे हीर–रॉझा, सोहनी–महीवाल, सस्सी–पुनो, पद्मावत आदि शामिल है, मे वे उडान के तत्व नही मिलते जो फिरदौसी मे थे। साही का मानना है कि "फिरदौसी और उसके शाहनामा के प्रवाह का मतलब सिर्फ दूर से झलकने वाली निर्मल, मोहिनी चचल लोकगाथा नही है। वह कुछ और है वह एक ऐसा प्रामाणिक रचना विधान है जो एक ही बहाव मे लोक सस्कृति और उच्च सस्कृति दोनो को इस तरह जोड देता है कि अतर मिट जाता है।"[11] फिरदौसी का महत्व इस दृष्टि से भी है कि उसके सामने महमूद गजनवी जैसा कट्टर बादशाह भी छोटा पड जाता है। फिरदौसी को साही मध्यकालीन भारत में एक सम्भावना की तरह स्वीकार करते है। भक्तिकालीन कविता मे दो सस्कृतियो को लेकर समन्वय की दृष्टि साही को कालिदास की तरफ भी उन्मुख करती है। जिस राष्ट्रीय सन्दर्भ से फिरदौसी का साहित्य धर्मनिरपेक्ष है, उसी दृष्टिकोण से सस्कृत साहित्य भी धर्म निरपेक्ष है। साही कहते हैं कि "कमनीयता कीर्ति, प्रेम और मधुर मादकता से बनी हुई कालिदास की दुनिया मूलतः धर्म निरपेक्ष दुनिया है। पराक्रमी पुरखो से लेकर आखिरी क्षय तक कालिदास जिस तटस्थ भाव से समूचे रघुवश की तस्वीर हमारे सामने रखते है वह न केवल धर्मनिरपेक्ष है, बल्कि कुछ हद तक नीति–निरपेक्ष भी लगती है।"[12] साही इसे भक्ति काल का दूसरा क्षितिज मानते है और कालिदास और फिरदौसी दोनों को मध्यकालीन क्षितिज मे सम्भावना की तरह झलकता पाते हैं "और बीच के मैदान में हिन्दी भाषा उत्तर भारत का काव्य जन्म लेता है।"[13] वस्तुत. साही धर्मनिरपेक्षता की संस्कृति' को समाजशास्त्रीय दृष्टि से परिभाषित करते है। 'धर्मनिरपेक्षता' सिर्फ धर्मों से निरपेक्ष सम्बन्ध पर ही नहीं आधारित होती, बल्कि वह अपने काल समय़ में राजनीति से भी निरपेक्ष होती है।

अठारहवी शताब्दी के भारत मे 'हिन्दू मुस्लिम' से परे एक दूसरी धार्मिक विचारधारा का आगमन होता है 'क्रिश्चियन धर्म' का। 'इग्लिस्तान' की 'विचार भूमि'

के कारण भारत का जो नया समाज जन्म ले रहा था, उसकी दिशा–दशा बदल गयी। जायसी, फिरदौसी, कालिदास की तरह एक नये व्यक्तित्व की तलाश शुरू होती है और वह खोज गाधी जी मे जाकर पूरी होती है। गांधी जी ने अपने अथक प्रयास से भारत को स्वतन्त्रता दिलाई। यद्यपि यह श्रेय अकेले गाधी जी को ही नही जाता, लेकिन अगुआई गाधी जी ने की है। साही का मानना है कि स्वाधीनता सग्राम के दौरान भारत के गौरवमय इतिहास और महान परम्परा का हवाला बार–बार दिया गया। जिसके पीछे विदेशियो के विरोध के प्रति आत्मविश्वास और महत्वाकाक्षा जगाने की भावना थी। लेकिन स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा की कसौटी अन्वेषण की नही सृजनात्मकता की हो जाती है। साही का मानना है कि ''आज की स्थिति को आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक इन चार स्तरो पर देख सकते है।''[14] 'इसी दृष्टि से साही 'इतिहास' को वर्तमान के सापेक्ष देखते है। रामचन्द्र शुक्ल से साही की दृष्टि का अन्तर यही है कि रामचन्द्र शुक्ल वर्तमान मे भूत को समाहित कर देते है जबकि साही वर्तमान का फैलाव भूत मे भी करते है और भविष्य में। साही का मानना है कि ''इतिहास सिर्फ वही नही है जो दो हजार बरस पहले घटित हुआ था, बल्कि वह भी है जो पिछले सौ वर्षों मे गुजरा है और वह भी जो कल घटित होने की सम्भावना की तरह आज हमारे मानस को व्याकुल कर रहा है।''[15]

परम्पराओ से समाज का गठन भी जुडा रहता है और जब परम्पराये टूटती है तो समाज के टूटने का भी खतरा बना रहता है लेकिन साही का तर्क है कि यह सच नही है क्योकि अठारहवी सदी से कहीं भारत आज ज्यादा मजबूत है, तो इसका तात्पर्य है कि ''परम्पराओ के अलावा और चीजें भी है जो सामाजिक इकाई को बाधता है।''[16] 'धर्म और सस्कृति' ये दो तत्व है जिनसे समाज को एकजुट रहता है। साही का मानना है कि मध्ययुग में परम्पराओ का पुंज ही धर्म था और भारत मे आधुनिकता का पहला कदम धार्मिक सुधार ही है, लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण बात है 'सस्कृति'। 'संस्कृति' धर्म के मुकाबले बडी चीज है इसमे धर्म, कला, साहित्य, रीति–रिवाज, संस्थाए राजनीति, समाज नीति और इतिहास का बडा हिस्सा समाहित होता है। कुल मिलाकर 'संस्कृति' परम्पराओं का प्रभा मण्डल है।

इस दृष्टि से साही 1947 के विभाजन को सिर्फ राजनैतिक असफलता नहीं स्वीकारते उसे सास्कृतिक विफलता भी स्वीकारते है। साही का कहना हैं कि "धर्म की सस्कृति से उलझने की कोशिश मूलत परमतत्व से निकलकर इतिहास मे आने की कोशिश है। इस क्षेत्र मे आने पर नयी समस्याएँ खडी हो गयीं। एक तरफ तो आर्य सस्कृति और द्रविड सस्कृति की बहस चल पडी, दूसरी तरफ हिन्दू सस्कृति और मुस्लिम सस्कृति की। मुख्य बौद्धिक चुनौती यह थी क्या सस्कृति की कोई ऐसी सन्तोषजनक परिभाषा हो सकती है, जो इस समूची सामाजिक इकाई को कई केन्द्रो की जगह एक केन्द्र प्रदान कर सके? सत्याग्रह युग (बीसवी सदी के तीसरे और चौथे दशक) में इसका सबसे चलता हुआ जबाब 'समन्वित संस्कृति' की धारणा मे दिया। लेकिन 'समन्वित सस्कृति' एक केन्द्र की स्थापना नही कर सकी, वह कई केन्द्रो के सहअस्तित्व तक ही सीमित रही।

धार्मिक दीन इलाही पन की तरह समन्वित सस्कृति ने भी एक नये शास्त्रार्थ को जन्म दिया 'असली सस्कृति' बनाम 'सकुचित सस्कृति'। यह बहस भी सुनाई पडती है। इसके पहले की धर्म की तरह सस्कृति को भी हम किसी और बडी सवेदनशीलता मे पचा लेते, बँटवारा हो गया। भारत–पाकिस्तान विभाजन धार्मिक विफलता नही है, गहरे स्तर पर सास्कृतिक विफलता है। जिन्ना से लेकर अयूब खा तक का नेतृत्व इस्लाम धर्म के बूते पर नही है (क्योकि वे धार्मिक नेता नही है), बल्कि मुस्लिम सस्कृति के नाम पर है।"[17]

सन् 1947 की आजादी को साही ने पूर्वग्रहहीन क्रान्ति माना है। 'पूर्वग्रहीन' इस अर्थ मे कि "हर क्रान्ति के साथ भावनाओं के एक वृहत् कोष का विस्फोट होता है जो पिछले सम्बन्धों के टूटने के बाद नये सम्बन्धो के लिए घृणा द्वेष, प्रेम, भय, आक्रोश, धैर्य, निष्ठा आदि को नई दिशाए झटके के साथ नया आवेग देता है। 1947 की आजादी ने यह नही किया। ससार की यह सबसे अधिक पूर्वग्रहीन क्रान्ति थी।"[18] आजादी की लडाई मे एक तरफ भारत बनाम पश्चिम का द्वन्द्व था तो दूसरी तरफ हिन्दू बनाम मुस्लिम का और इस पहलू का तीसरा कोण सवर्ण बनाम अवर्ण का भी था। भीमराव अम्बेडकर ने हरिजनो के लिए अलग स्वायत्तता की मांग की जिसे अंग्रेजो ने हवा दी। गाधी जी ने इसका विरोध किया, आमरण अनशन कर

भीमराव को 'पूना पैक्ट' लिए बाध्य किया। एक तरह से गाधी के विचारो मे परिवर्तन की यह आधार भूमि है। क्रान्ति का एक तरीका गाधी का आमरण अनशन भी है इससे साही बहुत गहरे प्रभावित होते है। जब समाज के अन्दर से गांठ बनने लगती है तो सामाजिक प्रक्रिया पतनशील हो जाती है। गाधी ने अपने कर्म से इस गाठ को तोडने का प्रयास किया और "समाज मे फॉक बनाने वाले तत्व के पहले उसका विरोध करने के साथ–साथ विषमता से वह फॉक वहां उत्पन्न हुई उस विषमता को भी उन्होने अपने जिम्मे लेने का हठ लिया।"[19]

स्वतन्त्रता के बाद भारत मे 'जाति–प्रथा' की समस्या और गभीर रूप धारण कर लेती है। जो सघर्ष हरिजन बनाम सवर्ण का था उसमे एक तीसरा वर्ग जिसे पिछडा वर्ग कहा जाता है का उद्भव होने लगता है। इस वर्ग को तो कोई भीमराव अम्बेडकर नही मिले लेकिन चरण सिह जैसा किसान नेता मिला। पिछडे वर्ग की सामाजिक स्थिति हरिजन वर्ग से भिन्न थी इसलिए पिछडा वर्ग किसी इन्कलाब की बात नहीं करता उसे सिर्फ ऊँची जातियो के समान समाज मे स्थान चाहिए। साही के अनुसार "उसकी अपनी जो जातिगत सामाजिक महत्वाकाक्षाएं हैं, उन सामाजिक महत्वाकाक्षाओ के भीतर ही वह अपनी राजनीति की तस्वीर बनाता है उस तस्वीर मे इन्कलाब नही शामिल है, जाति तोडना नहीं शामिल है, केवल ऊँची जातियो के आसन पर एक पीढा हमारा भी लग जाय यही मांग है।"[20]

जातिवाद की यह समस्या 'भक्तिकाल' में भी थी। भक्तिकाल के कवियो ने इसका हल अपने तई निकाला, लेकिन कुछ ही समय बाद यह व्यवस्था और भयानक रूप से भारत मे स्थिर हो गयी। शायद इसके मूल में हिन्दू धर्म की वह पाचन शक्ति है जिसमें आकर सबका कोई न कोई समाधान निकल ही जाता है और कुछ नही तो एक नया सगठन बन जाता है, क्योकि "हिन्दी समाज ऐसा है कि आप रजनीश हो सकते है, बहुत ही क्रान्तिकारी बात कह सकते है और एक बिलकुल क्रान्तिकारी सम्प्रदाय की स्थापना कर सकते है और बहुत चौकानें वाली प्रथाओ का प्रवर्तन कर सकते है। बशर्ते आप अपने सम्प्रदाय के अन्दर करे? वैसा करने का अधिकार हिन्दू धर्म आपको दे सकता, क्योकि सम्प्रदाय समझौते की एक विशेष अवस्था मे क्रियाशील होता है, वह तनाव की अवस्था में क्रियाशील नही हो

पाता वह क्रान्ति नही होता, वह सिर्फ अलगाव होता है।"[21] साही ने बार–बार इस तथ्य को रेखाकित करने का प्रयास किया है कि कैसे भारत मे जाति–प्रथा को तोडा जाय, कैसे 'हिन्दू मुस्लिम' एकीकरण को मजबूत किया जाय। 'हिन्दू–मुस्लिम' एकता के लिए साही कहते है कि मुसलमानो की जब सत्ता भारत को अपना देश मानने लगी, उसी समय एक दूसरे आक्रमणकारियो की लहर आयी उसने भी जब भारत को अपना देश माना तो तीसरा दल आया। इस तरह से बार–बार आक्रमण मुस्लिम शासक झेलते रहे। वस्तुत ये विचार राम मनोहर लोहिया के है, साही इसे विस्तार देते हुए हिन्दू मुस्लिम समन्वय की बात करते है" अपने को उस समय के विजेता समझते है वह स्वय सोचे और जरूरत पडने पर अगर हिन्दू है तो मुसलमानो और अगर मुसलमान है तो हिन्दुओ से विचार–विमर्श करें। डरे नही कि खुली बात कहने मे गडबड है।"[22] साही अपनी बात बडे ही बेलाग तरीके से रखते है। बगैर इस चिन्ता के कि उनकी बात का इस्तेमाल कौन अपने पक्ष मे करेगा। साखी कविता सग्रह मे 'साही' अपने 'परम गुरू' से प्रार्थना करते है कि"[23]

परम गुरू
दो तो ऐसी विनम्रता दो
कि अन्तहीन सहानुभूति की वाणी बोल सकूँ।
और यह अन्तहीन सहानुभूति
पाखण्ड न लगे।

— — — — — — — — —

— — — — — — — — —

दो तो ऐसी निरीहता दो
कि इस दहाडते आतंक के बीच
फटकार कर सच बोल सकूँ।
और इसकी चिन्ता न हो
कि इस बहुमुखी युद्ध में
मेरे सच का इस्तेमाल कौन अपने पक्ष में करेगा।

बगैर चिन्ता किये साही एक तरफ हिन्दू धर्म के कमजोर पक्षो पर चोट करते है तो दूसरी तरफ वह मुसलमानो को भी नही बक्सते। साही का मानना हैं कि लोहिया ने सारे भारत मे एक से सविधान की वकालत की है उसके पीछे उनकी सामाजिक क्रान्ति का सिद्धान्त है। साही मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति का विरोध करते हुए लिखते है कि "हम आप इन्कलाब करते है चाहे इस्लाम को मानते है। इसके तो सारे उसूल हमारी कुरान मे मिल जाते है फिर मुसलमान जब बहुमत मे है तो क्या करे। जब सत्ता तक होगा तब पता चलता है। तब सैयद के भी अपने सलाओ चेला जैसे खुमैनी साहेब बहुत लोग जैसे कर रहे है। जिया–उल–हक साहेब कर रहे है। इसका न हदीस मे और न ही कुरान मे कोई जिक्र है कि तुम जब अल्पत मे रहो तो क्या करो। इसलिए मुसलमान जब अल्पमत मे है तो उसे धर्मनिरपेक्षता चाहिए, सत्ता मे है तो कहता है कि सिवाय इस्लाम के और कोई धर्म नही चलेगा। एक जबान दो फाक।"[24]

वस्तुत साही तटस्थ भाव से हिन्दू–मुस्लिम' सस्कृति को परखने के हिमायती रहे है। तुष्टिकरण की नीति–चाहे वह हिन्दू के पक्ष मे हो या चाहे मुसलमान के पक्ष मे का साही बार–बार विरोध करते है।

डा0 राम मनोहर लोहिया के 'सात क्रान्तियो' के सिद्धान्त मे एक सिद्धान्त है 'नर–नारी समानता' का। लोहिया ने सीता सावित्री को आदर्श रखने के बजाय 'द्रौपदी' को आदर्श माना। इस अर्थ मे नही कि वह पांच पतियो वाली स्त्री है, बल्कि इस अर्थ मे कि वह अपने अधिकारो के प्रति सतत जागरूक है। वह अपने प्रति होने वाले अन्याय से लड़ना जानती है। आज की नारी को भी ऐसा ही होना चाहिए। इसी बात को आगे बढाते हुए साही कहते है कि "आज अगर मैं तुलसी दास की जगह राम की कथा लिखने बैठू तो निश्चय ही मै सवाल पूछूगा कि अहिल्या का कौन सा दोष था? उसका तो एक तरह से बलात्कार ही हुआ था, बल्कि उससे भी ज्यादा खराब धोखा दिया था।"[25] दरअसल समस्या नारी–पुरुष की न होकर समाज की पुरूष मानसिकता की है। 'योनिशुचिता' के सिद्धान्त से स्त्री के लिए एक कसौटी और पुरुष के लिए दूसरी कसौटी निर्धारित करना न सिर्फ सामाजिक स्तर पर अन्याय है, बल्कि मनुष्य होने की संभावना को भी समाप्त करना

है। नारी की यह स्थिति सिर्फ हिन्दू धर्म मे ही हो ऐसा नही है, मुसलमानी सस्कृति मे यह तो और भयानक रूप मे विद्यमान है।

आधुनिक काल मे फ्रास की एक अस्तित्ववादी विचारक सिमान दी बोबा ने स्त्रियो के शोषण सम्बन्धी कारणो मे 'विवाह' को भी एक कारण माना है। समाजवादी विचारक साही इस बात का विरोध करते है। "स्त्री–पुरुष विवाह होता है, वही स्त्री का शोषण शुरू हो जाता है। कहने को ये बाते अच्छी लगती है कि परिवार ही शोषण का आधार है। यह नही कि आज का परिवार शोषण को बढावा देता है, बल्कि परिवार मात्र चाहे जिस समाज मे होगा, यदि पारिवारिकता होगी, स्त्री–पुरुष मे विवाह सम्बन्ध होगा तो सिवाय शोषक–शोषित के कोई दूसरा सम्बन्ध नही बनेगा। कोई भी समाजवादी और समाजशास्त्री इतना तो मान लेगा कि आज के समाज, आज के परिवार, स्त्री–पुरूष के बीच मे बडी असमानताएं हैं और शोषण के बहुत से आधार है। उन आधारो को दूर करना एक बात है, लेकिन यह कहना कि परिवार मात्र ही, विवाह पद्धति मात्र ही इस सकट को खडा कर देती है, ऐसा कोई समाजवादी स्वीकार नही करेगा।"[26]

"भाषा' पर साही ने अपने विचार–क्रम मे बहुत कुछ ऐसे विचार प्रस्तुत किये है जिससे हिन्दी आलोचना अछूती रही है। 'भाषा' की समस्या 'भारत' के लिए सास्कृतिक समस्या रही है। खासकर स्वतन्त्र भारत मे। अंग्रेजी बनाम हिन्दी' 'हिन्दी बनाम अन्य प्रान्तीय भाषा' का द्वन्द्व भारत को दो ध्रुवो उत्तर, दक्षिण मे बांट देने की स्थिति मे पहुच गया है। सारी कवायद के बाद भी आज 'हिन्दी' की अपेक्षा 'अग्रेजी' मजबूत स्थिति मे भारत मे पैर जमा चुकी है। जो कि ठीक नही है, क्योंकि "किसी भी दूसरे देश की भाषा ज्ञान का साधन बन सकती है। यह अलग मत है, लेकिन देश की एकता का साधन बन सकती है, कभी नही। वह हमेशा विदेशी है।"[27]

भाषा की समस्या सिर्फ 'आधुनिक भारत' की ही समस्या नही रही है। मध्यकाल मे भी ऐसी स्थिति थी। राजभाषा दूसरी लोक भाषा दूसरी। भक्तिकाल, रीतिकाल की भाषा कविता में लोकभाषा अवधी, ब्रज की रही है और राजनीति मे फारसी। ब्रज, अवधी को स्थापित करने मे युगीन कवियो को काफी सघर्ष करना

पडा। मामला धर्म का भी था– इसकी अभिव्यक्ति 'भाषा' के लिए चुनौती थी। 'भक्ति–काल' की भाषिक स्थिति की विवेचना करते हुए साही कहते है कि "धर्मान्धता और धर्मनिरपेक्षता की सीधी बहस मे विषयवस्तु की ओर ध्यान बरबस चला जाता है। लेकिन काव्य सत्य मे निहित समूची सम्भावना को देखने के लिए विषय वस्तु और रूप विधान को अलग न करना उचित है और यही लोक प्रचलित धर्म–निरपेक्षता तत्व–यानी बोल चाल की भाषा बडे पैमाने पर काम करती दिखती है। बोलचाल की भाषा धर्म निरपेक्ष इसी अर्थ मे होती है कि धर्मों के अन्तर के बावजूद सभी लोग उसे बोले। भाषा सबकी होकर 'धर्म निरपेक्ष' हो जाती है।"[28] साही का मानना है कि धर्म के तत्ववाद को पकडने के बावजूद भक्तिकाल के कवियो ने भाषा की एकतानता को स्वीकार कर 'सर्वसम्प्रदाय' की स्थापना की। "एक ही अवधी से जायसी और तुलसीदास दोनो का काम चलता है। कविरूप मे दोनो एक ही मनोभूमि के अग है। अगर जायसी अपनी बात फारसी मे कहते और तुलसीदास सस्कृत मे तो प्रेम–रसायन या भक्ति–रसायन मे समानता के बावजूद दोनो के दायरे अलग रहते। जैसे शेख सादी और जायसी की दुनियाए अलग है। दरवेश दोनो है। यहा सस्कृत और फारसी हिन्दू और मुसलमान के साथ नत्थी हो गयी थी। लोकभाषा हिन्दी दीवारे तोडती है और समन्वय का आह्वान करती है।"[29] साही को जायसी अपने 'मानुष प्रेम' के साथ–साथ इसलिए भी महत्वपूर्ण लगते है कि मुसलमान होने के बावजूद, इस्लाम मे दृढ आस्था रखने के बावजूद, अपनी अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा अवधी का चुनाव करते है। "यानी फारसी से इस्लाम का अनावश्यक रिश्ता"[30] तोडते है।

'रीतिकाल' को हिन्दी आलोचना मे 'छय युग' के नाम से जाना जाता है। लेकिन साही इस काल को भाषायी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण मानते है। साही का मानना है कि जब मुस्लिम सत्ता भारत मे पैर जमा चुकी थी तात्पर्य यह कि वह भारत को अपना मुल्क मान चुकी थी तो राजभाषा को लेकर एक सवाल उस दौर मे भी उठा। ठीक उसी प्रकार जिस तरह से आधुनिक काल में, स्वतन्त्र भारत मे 'हिन्दी या अग्रेजी' का उठा है। साही किसी भी युग को उसके राजनीतिक, सामाजिक, सास्कृतिक दृष्टि से विचार करने के पक्षपाती रहे है। वस्तुत. उनकी

कोशिश युग की मनोभूमियो' को उसके 'तलस्पर्शी' तत्वो से खोजने की रही है। 'ब्रजभाषा' के काव्य भाषा बनने के कारण को साही तत्कालीन राजनीतिक स्थिति से जोडकर देखते है। साही कहते है "1661 मे एक बेमतलब पानीपत की तीसरी लडाई हुई जिसमे किसी चीज का निबटारा नही हुआ और 1757 मे बहुत मतलबो से भरी हुई प्लासी की लडाई हुई जिसने भविष्य के लिए सब कुछ का निपटारा कर दिया।"[31]

सामाजिक स्थिति राजनीतिक स्थिति से भिन्न नही हो सकती। कविता समाज को गतिमान बनाने का एक तत्व है। सत्रहवी–अठारहवी शताब्दी मे 'ब्रजभाषा' ने यही काम किया है। "ब्रजभाषा कवियो ने सबसे बडा कमाल यह किया कि जब एक ओर राजनीतिक एकता टुकडे–टुकडे हो रही थी उन्होने आज जो हिन्दी–भाषी क्षेत्र कहलाता है, इस पूरे खित्ते के लिए बडे मनोयोग से एक सर्वमान्य भाषायी माध्यम निर्मित कर डाला। इतना ही नही उसे परवान भी चढाया। पूरे क्षेत्र को समान रूचि और काव्य भगिमा दी और लोकभाषा मे तराश और प्रगल्भता की यह खोज निकाली जो न सिर्फ सात समुन्दर पार उसी समय के अंग्रेजी 'मेटाफिजिकल' कवियो की बौद्धिकता की जैसी लगती है, बल्कि बात पैदा करने मे उनसे आगे भी निकल जाती है। पजाब से लेकर मिथिला तक और काश्मीर से लेकर सतारा तक हृदय एक तरह धडकाना सिर्फ दरबारी विलासिता या विमूढ रूढिवादिता के बूते का काम नही है। कुछ और है जो बिहारी के दोहो को बॉकी मुस्तैदी और घनानन्द के स्वर को कसकता हुआ पकापन देता है।"[32] इसीलिए साही रीतिकालीन कविता को सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते है। साही का यहां तक मानना है कि ये कवि न होते तो हिन्दी भाषी क्षेत्र बोलियो में टूट जाता। इन्होने अपनी आन्तरिक स्फूर्ति से ब्रजभाषा मे कविता लिखने का फैसला लिया तथा दूर–दूर तक के भिन्न क्षेत्रीय– 'ऐते–ऐते कविन की वानी हू सो जानिये'–कवियो ने भाषा का निर्माण किया जैसे खडी बोली को भारतेन्दु से लेकर निराला, प्रेमचन्द्र आदि ने मानक रूप प्रदान किया। साहीपूर्व हिन्दी आलोचना मे रीतिकालीन कविता को 'परस्त्रीगमन' का चित्र मानकर उसे कठघरे मे खडा किया जाता रहा पर, साही ने अपने चितन से इस परम्परा को तोडने का प्रयास किया है। ब्रजभाषा और

फारसी के द्वन्द्व के साथ–साथ साही हिन्दी और उर्दू के द्वन्द्व को भी सामने रखते है। भारत मे एक आम प्रचलित धारणा रही है कि हिन्दी हिन्दुओ की और उर्दू मुसलमानो की भाषा है। बीसवी शताब्दी मे बार–बार इसी प्रश्न को लेकर विवाद उठता रहा है। साही इसे सास्कृतिक खतरा मानते है। क्योकि 'उर्दू' को फिर से जिन्दा करने की कवायद करना एक तरह से भारत की एकता अखण्डता को नष्ट करना होगा। क्योकि उर्दू भाषा बहुमुखी प्रतिभा की भाषा नही है। "अगर वह पर्याप्त रूप से बहुमुखी भाषा, प्रतिभा वाली भाषा होती जो पूरे पतन काल को आच्छादित कर लेती तो भी वह ब्रजभाषा को अप्रासगिक बना देती। लेकिन सब होने पर भी पतनकाल का एक हिस्सा उर्दू की पकड के बाहर रह गया और वह कार्य ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवि करते रहे। एक घातक भूल जो उर्दू के लेखको ने की वह यह थी कि उन्होने ब्रजभाषा या ब्रजभाषा के पहले के कवियो की सजीव और उद्दीप्त परम्पराओ से सम्बन्ध–विच्छेद कर लिया।"[33] इसलिए आज के सन्दर्भ मे उर्दू हमारे महत्व की भाषा नही रही क्योकि "जो विरासत हमारे लिए छोडी है वह बहुत अधिक रीतिबद्ध, बहुत नफीस और तराशी हुई है। अत हमारी जरूरतो के लिए अनुपयुक्त है। ब्रजभाषा के क्षीण पडकर लोप हो जाने की प्रक्रिया उन्ही कारणो से हुई। एक लगभग पीठिका की आवश्यकता है। जैसा कि स्पष्ट है हिन्दी ने इस दिशा मे गतिशीलता का सामर्थ्य अधिक दिखाया, क्योकि वह भविष्योमुखी है। अतः आधुनिक हिन्दी ही चयनीय सिद्ध होगी,जिसका विकास आधुनिक युग के साथ संक्रमण करता है।"[34] इसलिए "उर्दू को वैसे ही सूख जाने देना चाहिए जैसे ब्रजभाषा।"[35] ऐसा नही है की साही सिर्फ उर्दू या ब्रजभाषा के लिए 'रीतिबद्ध, नफीस, तराशी हुई भाषा का मानदण्ड स्वीकार कर विरोध करते है बल्कि हिन्दी में भी ऐसी भाषा –'छविमयता' या सिलवटो की भाषा' जिसका सन्दर्भ आचलिकता से होता है का विरोध भी इसी दृष्टिकोण से किया है। साही एक ऐसी मानक भाषा की वकालत करते है जिसमे पूरा का पूरा राष्ट्र सन्दर्भित हो सके। पूरा का पूरा साहित्य अट जाय, और यही साहित्यकार के दायित्व की कसौटी भी है। साहित्यकार के दायित्व को साही चार स्तरो की चेतना मे स्वीकारते है। उनका मानना है कि "सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना, मानवीय चेतना ब्रह्माण्डव्यापी चेतना' इन चार स्तरो पर

एक साथ लेखक का दायित्व बनता है।"[36] पीछे मै बता चुका हूँ कि 'जायसी' की महत्ता का रेखाकन साही ने हिन्दू–मुस्लिम ऐक्य के सन्दर्भ मे, उनके काव्यभाषा के सम्बन्ध मे साथ ही इतिहास के यथार्थ पक्ष को ध्यान मे रखकर लिखने के पक्ष मे किया है और "जायसी मे जितना परिवार या प्रेम का सम्बन्ध आया है, एक ही साथ ब्रह्माण्ड सामाजिक चेतना, पारिवारिक चेतना और मानवीय चेतना चारो को ध्वनित किया।"[37] इसलिए जायसी बडे कवि है। इसके कारण ही जायसी मे 'मनुष्य मात्र की चिन्ता का तत्व प्रमुख है, क्योकि "जायसी का प्रस्थान बिन्दु न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिन्ता का मुख्य ध्येय मनुष्य है। मनुष्य जैसा कि वह सामान्य जिन्दगी मे उठता–बैठता है, सीखता है, प्रेम करता है, गृहस्थी चलाता है, युद्ध मे वीरता और कायरता दिखलाता है, राज्य स्थापित करता है। बटोर करने के लिए नारे लगाता है और इस सबके बाद अपनी अपर्याप्यता की गहरी त्रासदी से ग्रस्त हो जाता है"[38] और इसके लिए "जायसी ने वह मुहावरा विकसित किया था जो एक साथ कई स्तरो पर झकृत होता है। उनका स्वाभाविक पाठक वर्ग अलग धर्मों और सस्कृतियो के बावजूद, बिना किसी दुराव या सस्कृतिक सीमा रेखा के एक साथ उनके सृजनात्मक ससार मे शामिल हो सकता है"[39] और यही मनुष्य जब इस सृजनात्मक ससार मे प्रवेश करता है तो वह पाता है कि जायसी कि चिन्ता 'मनुष्य' नाभिक है और "अपने सम्पूर्ण प्रसार मे यह चिन्तनशीलता पूरी कथा मे एक तरल विषाद दृष्टि का सृजन करती है जिसमे मानवीय व्यापार के प्रति पीडा है, किन्तु अवसाद नही है, हल्का वैराग्य है, लेकिन गहरी ससक्ति भी है, तटस्थता है, लेकिन स्पष्ट नैतिक विवेक भी है। यही वह सुगध है जो फूल के मरने के बाद भी नही मरती।"[40] 'फूल मरै पर मरै न बासू'।

जायसी का महत्व इस दृष्टि से और अधिक बढ जाता है कि उनके बाद के 'भक्त कवि' अपनी दुनिया को इस लोक से परे 'द्वापर–त्रेता' मे केन्द्रित करते है। जबकि जायसी अपनी दुनिया अपने युग–भूमि मे, 'अलोक–इतिहास लोक' मे खोजते है। उस मनुष्य को खोजते रहते है जिससे समाज मे एक सामजस्य स्थापित हो सके। इसीलिए जायसी के पद्मावत मे दो दुनियाओं की संरचना है जिसमें 'स्वप्नो आकांक्षाओ मूल्यवत्ता की एक दुनिया भीतर है। रौंदती हुई सत्ता की एक

आतककारी दुनिया बाहर है।''[41] जायसी का चितन तो इसी बात को लेकर था क्या इन दोनो दुनियाओ मे सामजस्य हो सकता है जब वे आपस मे टकराती है तो क्या होता है? ''अपनी आत्मा की पूरी शक्ति से जायसी ने इसी सवाल को **आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, सास्कृतिक** आयामो मे पूरी पद्मावत कथा में पूछने का अभूत पूर्व प्रयास किया है। जबाब मे उन्होने देखा चिता से उडती हुई राख और एक वीरान सन्नाटा और जायसी उस चिता की राख को कुरेदते है कि इसमे एक धडकता हुआ ह्रदय था उसका क्या हुआ? गालिब के शब्दो मे–

जला है जिस्म जहां दिल भी जल गया होगा
कुरेदते हो ये क्यो खाक जुस्तजू क्या है ?''[42]

कुल मिलाकर 'जायसी' मे एक ऐसी दृष्टि मिलती है जिसमे समन्वय भी है और 'व्यक्ति–चेतना' या 'प्रेम–चेतना' का तत्व भी है। इस दृष्टि से जायसी का मानुष प्रेम 'बैकुठी' बन जाता है। महत्वपूर्ण यह है जायसी को "बैकुठी प्रेम की तलाश नही है, जो ऐसा प्रेम चाहता है जो प्रेम करने वाले मनुष्य को ही बैकुठी बना दे।''[43] साही ने बार–बार 'हिन्दू–मुस्लिम' दोनो ही संस्कृतियो को एकाकार कर नयी भाव–प्रसार भूमि देने की वकालत की है। वे बार–बार तुष्टिकरण की नीति का विरोध करते है। फटकार कर सच बोलने वाले साही आधुनिकतावादियो के तुष्टिकरण की नीति का विरोध करते हुए कहते हैं कि ''आधुनिकतावादी हिन्दी शास्त्रो का विरोध तो वैज्ञानिक दृष्टिकोणो के नाम पर करता है लेकिन मुस्लिम समाज के ढाचे मे परिवर्तन का सवाल उठने पर मुस्लिम शास्त्रों का विरोध करने का साहस नही बटोर पाता, मुसलमानो के जातीय कानून में परिवर्तन करने का साहस नही बटोर पाता। मुसलमानो मे जातीय कानून में परिवर्तन की मांग करने वाले को प्रतिगामी करार दिया जाता है। ब्राह्मणवाद तो आलोचना का विषय बन जाता है, लेकिन मुल्लावाद के खिलाफ कोई आवाज नही उठाता"[44]।

वस्तुत साही अपनी सांस्कृतिक चेतना से 'हिन्दू–मुस्लिम' सघर्ष को भारत के सन्दर्भ मे हानिकारक मानते है। वे बार–बार इस बात पर जोर देते है कि हिन्दू 'भारतीय मुसलमानो' को तथा मुसलमान 'हिन्दुओ' को भारत का नागरिक स्वीकार

करे। 'एकीकरण' के स्वस्थ पक्षपाती साही भारत–पाकिस्तान' के बटवारे को नही पचा पाते और स्वतन्त्रता के बाद 'भारत–पाकिस्तान' के बीच जो युद्ध हुआ उसे साही एक भयानक गलती मानते है। 18 9 1965 को अपनी 'डायरी' मे साही लिखते है "सब झूठ लग रहा है। 'ठीक' प्रतिक्रिया नही बन पा रही है चीन के लिए या पाकिस्तान के लिए दिल मे तीखी नफरत महसूस करने मे मै अपने को असमर्थ पा रहा हूॅं। हम सब के लिए वैसे ही तटस्थ भावना है, जैसी शास्त्री सरकार के लिए। यह राष्ट्रद्रोह हो तो हो। कोई वैकल्पिक समीकरण बनना चाहिए, जो नही बन पा रहा है।"[45] इससे स्पष्ट कि साही का भारत बिम्ब' किसी देशकाल की परिधि से नही घिरा है। वह 'मनुष्य' मात्र की परिधि से घिरा है।

साही के 'उधेड बुन' मे कुछ असगतिया भी परिलक्षित होती है जैसे समाज की एकजुटता के लिए 'धर्म' की दुहाई देना। चमार और राजा के द्वन्द्व को प्रस्तुत करते हुए साही कहते है "देखो तुम भी उसी शिव को मानते है, यह भी उसी शिव को मानता है–दोनो शिव के पुजारी है अगर तुमने लडाई किया तो ऐसा न हो कि शिव की जगह कोई और देवता यहा पूजा जाने लगे यह डरवाता है, लेकिन जब आग्रह अधिक बढता है तो वह कहता है कि शिव तो गये भाड मे हम तो इस राजा को हटा देगे। इतना कह देता है कि शिव तो गये भाड मे। तब खतरा लगने लगता कि अगर शिव भाड मे चले जायेगे तो यह समाज समाप्त हो जायेगा।"[46]

तात्पर्य यह है कि साही राजा, चमार के द्वन्द्व को प्रासगिक मानते हुए भी परिवर्तन की चेतना को कुहासे के रूप मे ही स्वीकार कर पाते है। क्या यह धार्मिक कठमुल्लापन नहीं है? ऐसे ही वे एक तरफ 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उक्ति को ससार की सबसे खतरनाक उक्ति मानते है जिससे आदमी पगु हो जाता है, कर्महीन हो जाता है तो दूसरी तरफ 'पाकिस्तान' को लेकर राष्ट्रद्रोह तक की बात करते है। साथ ही रीतिकालीन कविता के सास्कृतिक महत्व को निरुपित करते हुए उसके भाषायी दृष्टिकोण की प्रशसा करते है, लेकिन रीतिकालीन कविता के मूल चरित्र 'परस्त्री गमन' की बात को भूल जाते हैं। आखिर ऐसा क्यो हैं? कमला प्रसाद का मानना है कि "इतिहास सस्कृति, और सामाजिक विकास के बारे में उनकी दृष्टि अधूरी थी। वे जानकारी और सूचनाओ का आकलन पूर्वाग्रही दृष्टि से करते रहे"[47]।

कमला प्रसाद के उपर्युक्त कथन से पूरी तरह सहमत नही हुआ जा सकता कि साही का चिन्तन अधूरा है। शायद ये अन्तर्विरोध राजनीतिक दृष्टिकोण को साहित्यिक दृष्टिकोण पर वरीयता देने से ही उभर आये है। जो भी हो लेकिन यह भी सच है कि व्यक्ति का अन्तर्विरोध ही आने वाली पीढी को नया रास्ता दिखाने का उपक्रम करता है। नयी पीढी का काम है कि व्यक्ति के अन्तर्विरोधों को स्वीकार कर उसके मूल मतव्य को ग्रहण करे। इस दृष्टि से साही का महत्व अप्रतिम है। क्योकि उन्होने हमे जो विचार–पूजी सौपी है उसे नीर–क्षीर, विवेक से परिमार्जित करके उससे एक सही निश्चित दिशा में बढने का उपक्रम मिलता है। क्योकि[48]–

"अजब खामोश धडकन है किसी तूफान की।
शून्य मे भी जो नयी आवाज रचती ही गयी।
जिस कदर लिखता गया उठते गये अनगिनत सवाल।
लाख सुलझता गया गुत्थी उलझती ही गयी।"

तो इसी उलझन को सुझलाने की चुनौती मे ही एक युग से दूसरे युग का सवाद चलता रहता है। साही की 'सास्कृतिक दृष्टि' भी ऐसे ही सवाद की आकाक्षी रही है।

फुटनोट

1	अभिप्राय (पत्रिका)	साही विशेषाक स० राजेन्द्र कुमार	पृ० 03
2	साहित्य क्यो	धर्म निरेपक्षता की खोज मे हिन्दी साहित्य और उसके पडोस पर एक दृष्टि	पृ० 39
3	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 39
4	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही धर्म निरपेक्षता की खोज मे	पृ० 84–85
5	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 85
6	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 85–86
7	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 86
8	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 87
9	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 40–41
10	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 42
11	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 43
12	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 44
13	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 44
14.	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही इतिहास और परम्परा	पृ० 73
15	साहित्य क्यों	विजय देव नारायण साही	पृ० 75
16	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 77
17	साहित्य क्यो	विजय देव नारायण साही	पृ० 78–79
18	छठवा दशक	विजय देव नारायण साही– साहित्यकार और उसका परिवेश	पृ० 68
19	लोकतन्त्र की कसौटियॉ	विजय देव नारायण साही– सम्पूर्णक्रान्ति और कौमी एकता	पृ० 28
20	लोकतन्त्र की कसौटियॉ	विजय देव नारायण साही– स० क्रान्ति के सा० और सां० पहलू	पृ० 64
21	वर्धमान और पतनशील	विजय देव नारायण साही– भारतीय काव्य परम्परा मे दलितों का योगदान	पृ० 68
22	लोकतन्त्र की कसौटियॉ	विजय देव नारायण साही– सम्पूर्ण क्रान्ति और कौमीएकता	पृ० 39
23	साखी (कविता सग्रह)	विजय देव नारायण साही	पृ० 146

24 लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 39–40
25 लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 39–40
26 लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 76
27 लोकतन्त्र की कसौटियॉ विजय देव नारायण साही पृ० 76–77
28 साहित्य क्यो विजय देव नारायण साही पृ० 88
29 साहित्य क्यो विजय देव नारायण साही पृ० 88–89
30 साहित्य क्यो विजय देव नारायण साही पृ० 85
31 साहित्य क्यो विजय देव नारायण साही पृ० 90
32 साहित्य क्यो विजय देव नारायण साही पृ० 90
33 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 134
34 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 135
35 वर्धमान और पतनशील विजय देव नारायण साही पृ० 136
36 साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 54
37 साहित्य और साहित्यकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 54
38 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 62
39 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 64
40 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 67
41 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 98
42 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 98–99
43 जायसी विजय देव नारायण साही पृ० 103
44 साहित्य क्यो? विजय देव नारायण साही पृ० 55
45 पूर्वग्रह (पत्रिका) सम्पादक रमेशचन्द्र शाह – 'डायरी' पृ० 35
46 साहित्य और सात्यिकार का दायित्व विजय देव नारायण साही पृ० 44
47 अभिप्राय (पत्रिका) सम्पादक राजेन्द्र कुमार पृ० 72
48 सवाद तुमसे (कविता सग्रह) विजय देव नारायण साही पृ० 86

षष्ठम् अध्याय

उपसंहार

'हिन्दी–आलोचना' जिसका इतिहास उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध–भारतेन्दु युग से आरम्भ होता है को परिमार्जित, परिष्कृत करने का कार्य आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। और जिसे अर्थवान बनाने का काम शुक्लोत्तर समीक्षको–आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र के साथ–साथ डॉ० रामविलाश शर्मा ने किया और जिसे नयी भाव–प्रसार भूमि देने का कार्य आज भी डॉ० नामवर सिह सहित अन्य समीक्षक कर रहे है। इसी परम्परा मे विजयदेव नारायण साही ने अपने मौलिक चिन्तन जिसका 'फल सच्चे लोहे का है' से हिदी आलोचना को एक नयी दिशा–दृष्टि देकर 'हिन्दी आलोचना' को अर्थवान बनाने का स्तुत कार्य किया है।

साही के समकालीन दौर मे मार्क्सवादी विचारधारा ने 'हिन्दी–आलोचना' को रूढिग्रस्त कर दिया था। साही ने अपनी प्रखर चेतना, तीक्ष्ण तत्वावेषी दृष्टि से 'वाद' ग्रस्त होती हिन्दी आलोचना को एक नयी प्रसार दृष्टि दी। साही ने 'हिन्दी आलोचना' मे पहलीबार 'विचारधारा' आधारित मूल्याकन पर प्रश्न चिन्ह लगाया। साही का मानना था कि 'रूढिबद्ध' या किसी विचारधारा से बद्धमूल होकर न तो साहित्य की रचना हो सकती है और न ही उसका समग्र मूल्याकन हो सकता है, क्योकि विचारधारा आधारित साहित्य सिर्फ संदेशवाहक साहित्य हो जाता है, जिससे साहित्य का मूल उत्स दब जाता है। इसीलिए साही साहित्य में किसी Ideology की आवश्यकता से इन्कार करते है और पूर्वग्रहहीन होकर साहित्य की रचना–आलोचना की वकालत करते है।

साही ने न सिर्फ वादग्रस्त आधारित मूल्यांकन का विरोध किया बल्कि 'आलोचना' के लिए नये मानदण्ड का निर्धारण अपने 'जायसी' सम्बन्धी विवेचन मे किया। साही ने अपने मौलिक विचारों से 'जायसी' की उस 'मनोभूमि' को उसके 'तलस्पर्शी तत्वो' के आधार पर समझने–समझाने का प्रयास किया है जो कि जायसी के 'मानुष बैकुठी' प्रेम का मूल उत्स है। साही ने अपने चिंतन से अपने पूर्व के आलोचको की सकुचित दृष्टि को व्यापकता प्रदान करते हुए, नये युग बोध से 'जायसी' का मूल्यांकन किया। साही पूर्व हिंदी आलोचना में यह आम धारणा थी कि

'जायसी' सूफी कवि है और 'पद्मावत' सूफी काव्य ग्रन्थ। साही ने इसका विरोध करते हुए – इतिहास, परम्परा का मूल्याकन तर्क और अटकल के आधार पर करते हुए – जायसी को न तो सूफी माना और न ही पद्मावत को सूफी काव्य ग्रन्थ। साही 'जायसी' को एक 'कवि' के रूप मे देखते है, एक ऐसे कवि के रूप मे जिसमे न तो धार्मिक भावना है, और न ही किसी प्रकार की कट्टरता, अगर है तो सिर्फ एक निर्मल–दृष्टि जिससे जायसी 'मनुष्य' को बैकुठी प्रेम' मे विचरण करता हुआ देखते है। यह मनुष्य भी कोई देव तुल्य नही है, वह एक आम आदमी है, ऐसा आम आदमी जो जीवन मे प्रेम करता है, नफरत करता है, हॅसता है, रोता है, बोलता है, दुखी होता है। वह राजा भी होता है, रक भी, अलाउद्दीन भी होता है, रतनसेन भी। जायसी का महत्व सास्कृतिक दृष्टि से प्रतिपादित करते हुए साही का मानना है कि जायसी ने अपने 'कवि–विवेक' से समाज के मूल चरित्र को उद्घाटित किया है, बगैर किसी लीपा–पोती के। और इसके लिए जायसी ने अपने समय को, अपने समाज को लिया है। किसी अन्य युग की कल्पना नही की है। इस दृष्टि से जायसी अपने समकालीन भक्त कवियो सूर, तुलसी से अधिक महत्वपूर्ण है क्योकि सूर–तुलसी ने अपने युग को सदर्भित करने के लिए 'द्वापर–त्रेता' युग की कल्पना की है।

साही ने साहित्यकार को चार चेतनाओ से युक्त माना है। ये चार चेतनाये है – वैश्विक, सामाजिक, पारिवारिक, मानवीय। इन सभी चारो चेतनाओं से युक्त साहित्य ही साही के लिए सत्साहित्य है। इसमे किसी एक ही चेतना से युक्त साहित्यकार की दिशा–दशा भिन्न हो जाती है। वादग्रस्त हिन्दी आलोचना के जिस दौर मे साही का प्रवेश होता है, उस दौर में तमाम प्राचीन साहित्यकारो को कठघरे मे खडा करने का चलन था। 'मार्क्सवादी समीक्षा' मे यह तत्व अधिक था। साही ने 'मार्क्सवादी' समीक्षा की मूल–भूत कमजोरियो को उजागर कर उसके मूल्यांकन के मानदण्डो पर प्रश्न चिन्ह लगाया। साही का मानना है कि साहित्य का उद्देश्य 'मनुष्य चेतना' को जगाना है किसी विचार धारा का संवाहक बनाना नहीं। बार–बार मार्क्सवादी समीक्षा को कठघरे मे खडा कर साही ने चुनौती के स्वर मे कहा कि कोई भी मार्क्सवादी विचारक अपने अतीत के इतिहास में डुबकी नही लगाना

चाहता, साहित्य का इतिहास नही लिखना चाहता, सिर्फ छोटे–छोटे लेख लिख कर ही वह अपना इति सिद्धम करता है।

किसी भी युग की 'भाषा' का सन्दर्भ उस युग की युगीन परिस्थितियो से जुडा होता है, और साहित्यकार ही उसे युग के दबाव से मुक्त करता है। 'काव्यभाषा' को लेकर साही ने न सिर्फ 'हिन्दी–अग्रेजी' की समस्या को विवेचित किया है बल्कि भक्तिकालीन हिन्दी जनमानस के मूलभावो को भी पकडने की कोशिश की है। साही का मानना है कि मध्यकाल के कवियो ने राज–भाषा से इतर जनभाषा मे जो रचना प्रस्तुत की उसका महत्व सिर्फ इस दृष्टि से नही है कि वे लोकभाषा को महत्व दे रहे थे बल्कि इस दृष्टि से भी वे महत्वपूर्ण है कि उन्होने राजनीति के दबाव से अपने को मुक्त कर आम जनता की बात आम जनता की बोली मे कही और यह किसी भी युग के लिए यह एक आदर्श है।

साही ने रीतिकालीन कविता को 'हिन्दी आलोचना' को उस चौहद्दी से बाहर निकला जिसमे इसे सिर्फ 'काम–कला', 'पर–स्त्रीगमन' की कविता माना जाता रहा है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से रीतिकालीन कवियों को भाषायी दृष्टि से महत्वपूर्ण मानते हुए साही ने रीतिकालीन कविता की भाषा को राष्ट्रीय सन्दर्भ से महत्वपूर्ण माना। साही का मानना है कि इस काल के कवियो ने कम से कम सतारा से काश्मीर तक के हिदी भाषी जनता के दिल को एक ही भाषा मे धडकाया। भक्तिकालीन कविता को सामाजिक सन्दर्भों से महत्वपूर्ण मानते हुए भी साही ने भाषा के विविध स्तरो के कारण इसे रीतिकाल की अपेक्षा कम महत्व दिया और रीति कालीन कविता को उस पृष्ठभूमि के रूप मे स्वीकार किया जिसको आगे चलकर भारतेन्दु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बनारस के प्रसाद, बैसवाडे के निराला और लमही के प्रेमचन्द ने अग्रसारित किया। रीतिकालीन ब्रजभाषा की तरह आधुनिक युग मे खडी बोली का महत्व साही इसी दृष्टि से स्वीकार करते है कि उसने सम्पूर्ण भारत को एक करने का प्रयास किया है।

'हिन्दी–उर्दू' की आधुनिक समस्या को लेकर साही ने जो 'उधेड–बुन' की है, उसमे उन्होने स्वीकार किया है कि 'भाषा' के विवाद से देश की आन्तरिक लय

खडित होती है। इसीलिए साही जोर देते है कि उर्दू को या तो ब्रज भाषा की तरह सूख जाने देना चाहिए या उर्दू को अपने मूल चरित्र मे बदलाव करना चाहिए। उर्दू के सूखने का तर्क साही इसलिए देते है कि उर्दू कविता मे उसी नफीस, बनावटीपन की झलक मिलती है जैसी ब्रजभाषा में थी और जिसके चलते ही ब्रजभाषा कमजोर हो गयी।

नफीस और बनावटी भाषा का विरोध साही सिर्फ उर्दू या ब्रज भाषा के सन्दर्भ मे ही नही करते, बल्कि इसे 'खडी बोली' हिन्दी के लिए भी हानिप्रद मानते है। 'छविमयता' और 'सिलवटो की भाषा' जो कि आचलिक साहित्य का मूल भाषायी चरित्र होता है का विरोध साही ने इसीलिए किया है।

'आचलिकता' का सन्दर्भ साही के लिए सिर्फ ग्राम्यांचल ही नही है बल्कि इसे वह इतिहास के अचल मे, महानगरीय अचल मे भी देखते है। इसीलिए उन्होने हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'वाणभट्ट की आत्मकथा' तथा अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' को आचलिक उपन्यास स्वीकार किया। कथा–समीक्षा के सन्दर्भ से साही की एक महत्वपूर्ण अवधारणा यह थी की कि 'कथा–समीक्षक' को उपन्यास की कसौटी पर चढना आवश्यक है, सिर्फ कहानी की समीक्षा से कोई कथा–समीक्षक नही हो सकता। दरअसल साही आलोचक से अपेक्षा करते थे कि वह रचना के माध्यम से पूरे युग को सन्दर्भित करे, चूंकि कहानी का फलक छोटा होता है इसलिए साही इसे इतना महत्व नही देते जितना व्यापक फलक के उपन्यास को और इसीलिए 'आचलिक साहित्य' का भी विरोध करते है क्योंकि 'आंचलिकता' एक विशेष सन्दर्भ को ही उभारती है।

'लघुमानव के बहाने हिदी कविता पर एक बहस' में साही ने पूरे युग को ही परिभाषित करने का सफल प्रयास किया है। समग्रतावादी आलोचक साही का मानना है कि साहित्यिक युग का सबध राजनीतिक युग से बराबर बना रहता है। इसी दृष्टि से साही ने गाधी का सम्बन्ध छायावाद से और नेहरू का सम्बन्ध उत्तर छायावाद से माना है। साही का स्पष्ट मानना है कि समाज मे व्यापक परिवर्तन राजनीति ही कर सकती है, साहित्य नहीं। यद्यपि राजनीतिक व्यक्तित्व छोटे–छोटे

गोल रखता है लेकिन साहित्य मनुष्य की चेतना को विकसित कर उसके अन्त:करण को शुद्ध करने का प्रयास करता है इसीलिए साहित्य का महत्व राजनीति से अधिक है।

विविध व्यक्तित्व के धनी साही न सिर्फ एक साहित्यकार थे बल्कि एक राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे। साही ने साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध को बिना किसी घाल–मेल के, बिना किसी लाग–लपेट के, नैतिक विवेक से, स्वानुभूति के आधार पर विश्लेषित किया है और साहित्य को राजनीति से बचाने का उपक्रम किया है क्योकि राजनीति मे कविता के प्रवेश से राजनीति का तो कुछ बिगडता नही अलबत्ता कविता की प्रसार–भूमि बाधित हो जाती है।

साही ने बार–बार व्यक्ति की चेतना और धर्म निरपेक्ष संस्कृति को महत्व दिया है। इस दृष्टि से साही हजारी प्रसाद द्विवेदी के अधिक निकट लगते है। द्विवेदीजी ने भी मनुष्य की कविता की वकालत बार–बार की थी और इसे कबीर मे खोजा। साही ने भी यही बात बार–बार उठायी, यद्यपि इसे वे 'जायसी' में खोजते है। धर्मनिरपेक्ष साहित्य की वकालत से साही ने 'हिदी आलोचना' को समृद्ध कर द्विवेजी जी की परम्परा को आगे बढाने का स्तुत कार्य किया है।

साही ने 'व्यक्ति–चेतना' को महत्व देकर मार्क्सवादीयो के कठ मुल्लापन पर प्रहार तो किया ही साथ ही साहित्य को मनुष्य–नाभीय दृष्टि से विश्लेषित कर एक नये मानदण्ड को विकसित भी किया।

अपने विवेचन मे साही न सिर्फ तथ्यो को आधार बनाते है बल्कि आधुनिक सन्दर्भ से भूत के बारे मे अटकल भी लगाते है। वस्तुत. साही अपने चिंतन मे वर्तमान को भूत–भविष्य मे फैलाते है एक तर्कशील अटकल बाज की तरह। वैसे 'अटकल' कोई वैज्ञानिक मानदण्ड नही हो सकता। लेकिन एक साहित्यकार होने के नाते साही ने वर्तमान की खिडकी से भूत–भविष्य का फैलाव देखा है। इसी फैलाव मे जायसी के सन्दर्भ मे उन्हें, फिरदौसी, अमीर खुसरो मिलते हैं तो निराला भी, प्रेमचन्द्र के सन्दर्भ मे कालिदास मिलते है तो शरतचन्द्र भी। साहित्य को सामाजिक, सास्कृतिक, राजनैतिक दृष्टि से देखने वाले साही ने काल के वर्तमान को

भूत—भविष्य मे फैलाया है। इस दृष्टि से साही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से भिन्न जान पडते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल वर्तमान को भूत मे पर्यवसति कर देते है, साही वर्तमान को भूत तक फैलाते है।

साही ने अपने चिन्तन से पूर्व प्रतिष्ठित हिन्दी आलोचना को नव विचार—भूमि से विकासमान किया। साथ ही अपने मौलिक चिन्तन से हिन्दी आलोचना को एक नयी—भाव प्रसार भूमि पर प्रतिष्ठित भी किया, जिस मे न तो कोई रूढिबद्ध विचार धारा है और न ही कोई पूर्वाग्रह, अगर है तो सिर्फ एक मनुष्य—चेतना दृष्टि, और भारत—बिम्ब। कुल मिलाकर साही की आलोचना का महत्व आज भी है न सिर्फ विचार के स्तर पर बल्कि भाव—बोध के स्तर पर भी। इसीलिए साही की आलोचना 'फूल मरै पर मरै न बासू' की आलोचना है। अन्तत. साही की आलोचना के बारे मे यही कहा जा सकता है कि—

लाख चॉदनियों, लाख बरसातो, लाख हवाओं
से धीरे—धीरे चिकना होता है।
संगमरमर
छूकर देखो।
यह ठण्डा स्पर्श तुम्हारे हाथों में फफोले छोड़ जायेगा।

(साखी)

परिशिष्ट

परिशिष्ट-क

आधार–ग्रंथ

विजय देव नारायण साही कृत :

(1)	छठवा दशक	हिन्दुस्तान एकेडेमी इलाहाबाद प्रथम स० 1981
(2)	साहित्य क्यो ?	प्रदीपन प्रकाशन एकाश, इलाहाबाद, प्रथम स० 1988
(3)	लोकतत्र की चुनौतियॉ	हिन्दुस्तान एकेडेमी इलाहाबाद प्रथम स० 1988
(4)	वर्धमान और पतनशील	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली प्रथम स० 1991
(5)	साहित्य और साहित्यकार का दायित्व	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग प्रथम सं० 1983
(6)	जायसी	हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद द्वितीय स० 1993
(7)	मछलीधर (कविता सग्रह)	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली द्वितीय स० 1995
(8)	साखी (कविता सग्रह)	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली द्वितीय स० 1994
(9)	आवाज हमारी जायेगी (गीत और गजले)	लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम स० 1995
(10)	सवाद तुमसे (कविता सग्रह)	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली प्रथम सं० 1990

परिशिष्ट ख

सन्दर्भ ग्रंथ

1	अन्तरा	अज्ञेय	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली प्रथम स० 1975
2	आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिदी आलोचना	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1973
3	आधुनिक आधुनिक भारत का इतिहास	स० राम लखन शुक्ल	हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय नई दिल्ली पुर्न प्रकाशन 1993
4	आधुनिक साहित्य	नन्द दुलारे वाजपेयी	भारती भडार इलाहाबाद स०, 2088 वि०
5	आधुनिक हिदी साहित्य की प्रवृत्तियॉ	नामवर सिह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद नवीन सं० 1997
6	आधुनिक हिदी साहित्य का इतिहास	बच्चन सिह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद संशोधित स० 1997
7	आज का हिंदी साहित्य	प्रकाश चन्द्र गुप्त	नेशनल पब्लिसिंग हाउस दिल्ली प्रथम स० 1966
8	आधुनिक हिदी साहित्य	अज्ञेय	राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली प्रथम स० 1976
9	आधुनिक हिन्दी आलोचना : सन्दर्भ और दृष्टि	राम चन्द्र तिवारी	विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी प्रथम सं० 1997
10	आस्था के चरण	नगेन्द्र	नेशनल पब्लिसिंग हाउस, दिल्ली प्रथम सं० 1968
11	इतिहास और आलोचना	नामवर सिह	राजकमल प्रकाशन तृतीय सं० 1978
12	इतिहास चक्र	राम मनोहर लोहिया	लोक भारती प्रकाशन सप्तम सं० 1998
13	एक साहित्यिक	मुक्तिबोध	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

	की डायरी		दिल्ली आठवां सं० 1998
14	कबीर	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन पुर्नमुद्रित 1997
15	कामायनी	जयशकर प्रसाद	लोक भारती प्रकाशन छात्र स० 1998
16	कामायनी एक पुनर्विचार	मुक्तिबोध	राजकमल प्रकाशन दिल्ली प्रथम स० 1961
17	कामायनी का पुर्नमूल्याकन	राम स्वरूप चतुर्वेदी	लोक भारती प्रकाशन इला० चतुर्थ सं० 1997
18	कविता के नये प्रतिमान	नामवर सिह	राजकमल प्रकाशन दिल्ली तृतीय स० 1982
19	कविता का पक्ष	रामस्वरूप चतुर्वेदी	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम सं० 1994
20	कहानी नई कहानी	नामवर सिह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद स० 1996
21	गुप्त निबन्धावली	स० श्री झाबरमल्ल शर्मा, बनारसी दास चतुर्वेदी	गुप्त स्मारक ग्रन्थ स्मारक ग्रन्थ प्रकाशन समिति कलकत्ता प्रथम स० 2006 वि०
22	गोस्वामी तुलसीदास	रामचन्द्र शुक्ल	काशी नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी चतुर्दश सं० 2053 वि०
23	चिन्तामणि भाग–2	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्राचारिणी सभा वाराणसी चतुर्थ स० सम्वत 2053 वि०
24	छायावाद	नामवर सिह	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पचम सं० पुर्नमुद्रित 1997
25	छायावाद का पतन	डा० देवराज	वाणी मंदिर प्रेस छपरा प्रथम सं० 1948
26	जायसी ग्रन्थावली	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी 18वा सं० सम्वत 2052 वि०
27	जायसी	रामपूजन तिवारी	राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली प्रथम सं० 1965
28	तारसप्तक	स० अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली सातवां पेपर बैक सं० 1998

29	तीसरा सप्तक	स० अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली छठवा स० 1996
30	त्रिवेणी	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्राचारिणी सभा वाराणसी पचासवां सं० 2054 वि०
31	दूसरा सप्तक	स० अज्ञेय	भारतीय ज्ञानपीठ प्राकशन नई दिल्ली पहला पेपर बैक 1999
32	दूसरी परम्परा की खोज	नामवर सिह	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली स० 1994
33	देव और बिहारी	कृष्ण बिहारी मिश्र	गगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ चौथी बार 1965
34	नया साहित्य . नये प्रश्न	नन्द दुलारे वाजपेयी	विद्यामंदिर ब्रह्मनाल बनारस
35	निराला की साहित्य साधना–1	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली तृतीय सं० 1979
36	निराला की साहित्य साधना–2	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1972
37	निराला की साहित्य साधना–3	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1976
38	नयी कविता और अस्तित्ववाद	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पहला छात्र सं० 1993
39	नयी कविता के प्रतिमान	लक्ष्मी कान्त वर्मा	भारती प्रेस प्रकाशन दरभगा रोड इलाहाबाद।
40	नयी कविता का आत्म संघर्ष और अन्य निबन्ध	मुक्तिबोध	विश्वभारती प्रकाशन नागपुर द्वितीय सं० 1977
41	नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र	मुक्तिबोध	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली दूसरा सं० 1993
42	नये प्रतिमान पुराने निकष	लक्ष्मी कान्त वर्मा	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन कलकत्ता प्रथम सं० 1966
43	प्रेमधन सर्वस्व भाग–2	स० प्रभाकतेश्वर प्रसाद उपाध्याय	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रथमावृत्त सं० 2007 विक्रम
44	पद्म सिंह शर्मा के पत्र	सं० बनारसी दास चतुर्वेदी, हरि शकर शर्मा	आत्मा राम एण्ड सन्स दिल्ली 1956

45	पद्म पराग प्रथम भाग	स० पारस नाथ सिह	भारती पब्लिशर्स पटना प्रथम सस्करण 1986 विक्रम
46	पल्लव	सुमित्रा नन्दन पत	राजकमल प्रकाश नई दिल्ली नौवा संस्करण 1993
47	प्रतिक्रियाएँ	डॉ० देवराज	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम संस्करण 1966
48	प्रेमचन्द्र और उनका युग	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली पांचवा परिवर्तित सस्करण 1989
49	परम्परा का मूल्याकन	राम विलाश शर्मा	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1981
50	पद्मावत	वासुदेव शरण अग्रवाल	साहित्य सदन चिरगॉव झॉसी विद्यार्थी सं० 2042 विक्रम
51	पत –प्रसाद मैथिली शरण गुप्त	रामधारी सिह दिनकर	उदयाचल पटना 1958
52	बिहारी सतसई : तुलनात्मक अध्ययन	पद्म सिह शर्मा	ज्ञानदीप प्रकाशन दिल्ली पंचम संस्करण 1967
53	बिहारी और देव	लाल भगवानदीन	प्रकाशक और प्रकाशन वर्ष उल्लेख नही है।
54	बिहारी की वाग् विभूति	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस
55	भवन्ती	अज्ञेय	राजपाल एण्ड सन्स प्रथम सं०1972
56	भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रन्थावली पहला भाग	स० ब्रजरत्न दास	काशी नागरी प्रचारिणी सभा प्रथम संस्करण सं0 2007 वि०
57	मतिराम ग्रन्थावली	कृष्ण बिहारी मिश्र	गंगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ प्रथम सं० स0 1983 वि०
58	मानव मूल्य और साहित्य	धर्मवीर भारती	भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1960
59	मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य	राम विलाश शर्मा	वाणी प्रकाश नई दिल्ली प्रथम सं० 1984

60	महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण	राम विलाश शर्मा	राज कमल प्रकाशन दिल्ली प्रथम सं० 1977
61	रसज्ञ–रजन	महावीर प्रसाद द्विवेदी	साहित्य रत्न भण्डार आगरा चतुर्थ सं० 1939
62	रस–मीमासा	रामचन्द्र शुक्ल	काशी नागरी प्रचारिणी सभा चतुर्थ सं० स0 2023 वि०
63	रस–सिद्धान्त	नगेन्द्र	नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली प्रथम सं०
64	लिखि कागद कोरे	अज्ञेय	राजपाल एण्ड संन्स दिल्ली पहला सं० 1972
65	लोहिया	ओंकार शरद	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद चौदहवां सं0 1993
66	विश्व–प्रपंच	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिण सभा वाराणसी
67	विचार विमर्श	महावीर प्रसाद द्विवेदी	इण्डियन प्रेस लिमिटेड प्रयाग 1931
68	विश्वनाथ प्रसाद मिश्र –वाङ्मय विमर्श – वाणी प्रकाशन नई दिल्ली		
69	सूरदास	सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी दसवा सं० स0 2050 वि०
70	सूर साहित्य	हजारी प्रसाद द्विवेदी	हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लि० बम्बई स०स०1956
71	सूफीमत	कन्हैया सिह	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1998
72	सामयिकी	शातिप्रिय द्विवेदी	ज्ञान मण्डल लि० काशी सं० 2001 वि०
73	सुमित्रा नन्दन पन्त	नगेन्द्र	साहित्य रत्न भण्डार आगरा अष्टम सं०सम्वत 2014 वि०
74	साहित्य–चिन्ता	डॉ० देवराज	गौतम बुक डिपो 1950
75	साहित्य की समस्याएँ	शिवदान सिह चौहान	आत्मा राम एण्ड संन्स दिल्ली 1959
76	साहित्य का नया शास्त्र	गिरिजा राय	शालिनी प्रकाशन इलाहाबाद सं० 2000
77	साहित्य का नया	रघुवश	भारतीय ज्ञानपीठ काशी प्रथम

	परिप्रेक्ष्य		स० 1963
78	समसामयिकता और आधुनिक हिन्दी कविता	रघुवश	केन्द्रीय हिदी सस्थान आगरा प्रथम सं०1972
79	सक्षिप्त साहित्यालाप	महावीर प्रसाद द्विवेदी	खड्‌ विलास प्रेस बाकीपुर
80	सचयन	स० प्रभात शास्त्री	साहित्यकार संघ प्रयाग
81	साहित्य सन्दर्भ	महावीर प्रसाद द्विवेदी	गगा पुस्तक माला लखनऊ स० 1985 वि०
82	सर्जक और भाषिक सरचना	राम स्वरूप चतुर्वेदी	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद प्रथम स० 1980
83	सर्जना और सन्दर्भ	अज्ञेय	नेशनल पब्लिसिग हाउस नई दिल्ली प्रथम सं० 1985
84	साहित्यालोचन	बाबू श्याम सुन्दर दास	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी 13वा संस्करण 1959
85	हिन्दी समीक्षा स्वरूप और सन्दर्भ	रामदरश मिश्र	मैकमिलन कंपनी आफ इण्डिया लिमिटेड 1974
86	हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा	राम आधार शर्मा	अनुसंधान प्रकाशन आचार्यनगर कानपुर
87	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल	नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी सम्वत 2055 वि०
88	हिदी आलोचना	विश्वनाथ त्रिपाठी	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली छात्र स० 1995
89	हिन्दी आलोचना की बीसवी सदी	निर्मला जैन	राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली प्रथम सं० 1992
90	हिन्दी आलोचना · शिखरों से साक्षात्कार	रामचन्द्र तिवारी	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद द्वितीय संस्करण 2000
91	हिन्दी आलोचना. उद्‌भव और विकास	भगवत स्वरूप मिश्र	साहित्य सदन देहरादून 1954
92	हिन्दी आलोचना · अतीत और वर्तमान	प्रभाकर माचवे	हिन्दुस्तानी ऐकडमी इलाहाबाद प्रथम सं० 1988

93	हिन्दी आलोचना का विकास	नन्द किशोर नवल	राज कमल प्रकाशन नई दिल्ली पहली आवृत्ति 2000
94	हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली छंठा सं० पुर्न०1995
95	हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी	नन्द दुलारे वाजपेयी	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद विद्यार्थी सस्करण 1995
96	हिन्दी नवरत्न	मिश्र बन्धु	गगा पुस्तक माला कार्यालय लखनऊ प्रथम स० 1983 वि०सम्वत
97	हिन्दी साहित्य की भूमिका	हजारी प्रसाद द्विवेदी	राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली स० 1998
98	हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा	प्रकाशचन्द्र गुप्त	किताब महल इलाहाबाद प्रथम सं०1953
99	हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग	नामवर सिह	लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद सस्करण 1993
100	हिन्दी साहित्य और सवेदना का विकास	रामस्वरूप चतुर्वेदी	लोक भारती प्रकाशन इलाहाबाद 11वां स० 1999

परिशिष्ट ग

कोश ग्रन्थ

1 हिन्दी साहित्य कोश भाग–1, सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा एवं अन्य, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी तृतीय सस्करण 1985

2 हिन्दी साहित्य कोश भाग–2, सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा एव अन्य, ज्ञान मण्डल लिमिटेड, वाराणसी द्वितीय सस्करण 1986

3 हिन्दी आलोचना कोश सम्पादक यशपाल महाजन – भारती ग्रन्थ निकेतन, नई दिल्ली 1978

परिशिष्ट घ

पत्र–पत्रिकाएं

1 अभिप्राय
2 आलोचना
3 आनन्द कादम्बिनी
4 श्री शारदा
5 क, ख, ग
6 दस्तावेज
7 दिनमान
8 नई कविता
9 नागरी प्रचारिणी पत्रिका
10 निकष
11 पूर्वग्रह
12 ब्राह्मण
13 माध्यम
14 लक्ष्मी
15 विकल्प
16 वर्तमान साहित्य
17 वसुधा
18 समालोचक
19 सरस्वती
20 सम्मेलन पत्रिका
21 हस
22 हरिश्चन्द्र मैगजीन
23 हिन्दी अनुशीलन
24 हिन्दी प्रदीप